

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

A Text-book prescribed for Intermediate Examination  
of East Panjab University

1272  
संस्कृत-काव्य-लहरी

प्रो० संभारचंद्र एम. ए.

तीन रुपया आठ आने

Herbert College Library

KOTAH.

Class No ..... 5831.....

Book No..... 5229.....

Accession No ..... ~~12673~~ 12673.....

K. P. P. 3000-2-48

Dec-1973<sup>38</sup>

~~Dec-1973~~

12773

# संस्कृत-काव्य-लहरी

*The Acc. No. is furnished to you in  
the book and Register. Keep it in  
the book.*

सम्पादक तथा संग्रहकर्ता

प्रोफेसर संसारचंद्र एम. ए.,

सनातन धर्म कालेज

अम्बाला (फैट)

प्रकाशक—

मेहरचंद्र लक्ष्मणदास

संस्कृत-हिंदी-पुस्तक-विक्रेता

गजी नन्देरी, कृषा बेला

दरियागंज, दिल्ली

१९४६]

[ द्वितीयावृत्ति

प्रकाशक

लाला खजानचीराम जैन, मैनेजिंग  
प्रोप्राइटर, मेहरचंद्र लक्ष्मणदास,  
संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता, गली  
नन्हेखां, कूचा चेलां, फ़ैज बाजार  
दिल्ली ।

मुद्रक

लाला खजानचीराम जैन,  
मनोहर इलेक्ट्रिक प्रेस  
गली नन्हेखां, कूचा चेलां,  
फ़ैज बाजार, दिल्ली ।

# भूमिका

## संस्कृत का गौरव

संस्कृत साहित्य <sup>सिन्हा</sup> (भातवर्षे) की अमूल्य सम्पत्ति है। इस विशाल साहित्य की प्रमुखी तथा व्यापक प्रवृत्ति के कारण संस्कृत और संस्कृति भारत के लिए पर्यायवाची शब्द कहे जा सकते हैं। आज भी संस्कृत हमारे जीवन से अधिक सम्बन्ध रखती है। पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक भारत में प्रेक्ष्य का यदि कोई साधन हो सकता है तो यह संस्कृत है। हमारा आचार-व्यवहार धर्म-कर्म जन्म-मरण सब संस्कृत से ओत-प्रोत हैं। आज भी देश में वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, भागवत का पर्याय प्रचार है। हमारे संस्कार बिना संस्कृत के ही नहीं सकते। हमारी धार्मिक भाषा संस्कृत है। प्राचीन काल से लेकर ब्रिटिश-युग के आरम्भ तक हमारी सांस्कृतिक तथा साहित्यिक भाषा संस्कृत रही है। मुगल काल में भी भारतीय संस्कृति का अध्ययन संस्कृत द्वारा ही होता था।

पत्तन की पराकाष्ठा तब होती है जब दूसरों का अनुकरण करने में अपनी निजी धारणा बिलकुल खो दी जाती है। जब पश्चात्य विद्वानों ने कहा कि ग्रीक-लैटिन यूरोप में 'मृत-भाषा' के नाम से पुकारी जाती है तब भारतीय विद्वानों ने भी तदनुसार ग्रीक-लैटिन की सहचरी संस्कृत भाषा को 'मृत-भाषा' की पदवी दे दी। पर यह भारी भ्रम है। ग्रीक-लैटिन का प्रभाव यूरोपीय-जीवन से देर हुई उठ गया था; किन्तु संस्कृत का देश-व्यापी अस्तित्व अब भी भारत में ज्यों-का-त्यों है। हिन्दी भाषा में संस्कृत की ध्वनि-सामग्री, शब्द भण्डार, वाक्यारण, विचार-समूह अभी तक विद्यमान हैं। देश-काल के प्रभाव से संस्कृत का रूपान्तर हिन्दी हो गया है। संस्कृत को देखा-देखी 'मृत-भाषा' कहना घोर अन्याय है जब कि वह देव-वाणी हमारी भाषा में, हमारे भावों में और हमारे धर्म में जीवित है। यह फलन कह सकता है कि भविष्य में भारत की सांस्कृतिक भाषा संस्कृत नहीं हो सकती।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखा जाय तो हम कह सकते हैं कि संस्कृत एक बड़े महत्त्व का स्थान रखती है। जिन्हें और बौद्धों के अन्य अधिकांश रूप में संस्कृत में मिलते हैं। वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों का प्रभाव

हमारे न्यावहारिक और सामाजिक जीवन पर अनादि काल से असुवण रहा है। संस्कृत-प्रचार भारत से बाहर मलय-द्वीप, यवद्वीप, स्वर्णद्वीप, त्रिष्वथ, चीन आदि देशों और फ्रांसीसी हिन्दी-चीन तथा प्राचीन चम्पा उपनिवेश में रहा है। स्याम में अभी तक राजवाभिषेक के समय टूटी-फूटी संस्कृत में ही मन्त्र पढ़े जाते हैं।

वैद्य जोगों का श्रायुर्वेद संस्कृत में ही तो है। कितने ही दीन-दुस्त्रियों के स्वास्थ्य और सुख का साधन संस्कृत भाषा ही तो बनी है। संस्कृत का जीवित साहित्य आज भी विद्यमान है और इसके जीवन का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। जीवन का नाम वृद्धि है, मृत्यु का नाम हास है। यूरोप में जब से संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ हुआ तब से उन देशों में भाषा-शास्त्र का विमर्श और विवेचन प्रारम्भ हुआ। उन्होंने भी यास्क मुनि और पाणिनि-पुत्रन्वलि आदि आचार्यों से वे भाषा-शास्त्र सीखे जो केवल संस्कृत द्वारा ही सीखे जा सकते थे। भाषा-विज्ञान तथा शास्त्र में तारतम्य दृष्टि के उद्बोधन करने का श्रेय केवल संस्कृत को ही प्राप्त हो सकता है।

यह कहना भी अग्निति ही है कि संस्कृत बोली नहीं जाती थी और इस का प्रचार केवल अर्न्धों तक ही था। रामायण और महाभारत काल में संस्कृत ही बोल-चाल की भाषा थी। इसके प्रमाण पद-पद पर मिलते हैं। हनुमान् जब पहले-पहल श्रीरामचन्द्र को मिलते हैं तब संस्कृत में ही बातें-बातें करते हैं। सीता को मन्देश देते समय हनुमान् संस्कृत का आश्रय लेते हैं। श्री वाङ्मयिक लिखते हैं कि जब हनुमान् अपनी बात समाप्त कर चुके तब श्रीराम बोले—

“सचिवोऽयं कपीन्द्रस्य सुधीवस्य महात्मनः।

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ॥

बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम् ॥”

किष्किन्धा काण्ड ॥ ३ ॥ २६ ॥

इससे जान पड़ता है कि राम के जाने से पूर्व ही दक्षिण में संस्कृत भाषा बोली जाती थी। सीता-मन्देश के समय भी हनुमान् जी ने सोचा—

वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् ॥

सुन्दर काण्ड ॥ ३० ॥ १० ॥

यास्क और पाणिनि के अर्थों से प्रत्यक्ष पता चलता है कि संस्कृत बोली जाती थी। इसीलिए उन्होंने इसका नाम ‘भाषा’ या ‘लौकिक’ रक्खा है। शिष्ट वर्ग की भाषा संस्कृत थी। हर्षवर्धन के समय तक राज-भाषा भी यही थी।

भारतीय इतिहास के ज्ञान के लिए, पुरातत्त्व की गवेषणा के लिए, भारत के प्राचीन जीवन की जिज्ञासा को पूरा करने के लिए संस्कृत साहित्य का

अध्ययन अत्यावश्यक है। जीवन के चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से धर्म और मोक्ष साधन के लिए संस्कृत अनिवार्य है। भले ही हम अर्थ और काम के लिए अन्य आश्रय का अवलम्बन कर लें। इस वैज्ञानिक युग के आध्यात्मिक अन्वेषण में यदि कहीं से रक्षा का आलोक मानव-संसार को प्राप्त हो सकता है तो वह संस्कृत-साहित्य से ही मिल सकता है। वैज्ञानिक वातावरण में वेदान्त का समावेश जब तक न होगा तब तक संसार में शान्ति का साम्राज्य स्थापित नहीं होगा। विज्ञान और साहित्य में यह मेल तभी सम्पन्न हो सकता है जब संस्कृत वाङ्मय के अमर रत्न शिक्षा-विधि में रक्खे जायँ और उनसे आत्मा की अमरता, एकता में अनेकता, अनेकता में एकता तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का ज्ञान लोगों को हो। यह पावन सन्देश संस्कृत ही प्रदान कर सकती है, यह समता केवल संस्कृत में ही है, यह हम बड़े दावे में कह सकते हैं। इस बात का प्रमाण यूरोपीय विद्वान् अपने लेखों और पुस्तकों द्वारा पर्याप्त रूप में दे चुके हैं। संस्कृत भाषा और साहित्य भारत के बुद्धि-वैभव का उच्चतम परिणाम है और इस बात का प्रमाण भी है कि यदि भारतीय विकास का परम रमणीय उदाहरण देखना हो तो 'संस्कृत' देखिये। हमारी साधना का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण यदि आपको देखना हो तो देवनागरी वर्ण-माला ही देखिये। यह वह मणि-माला है जिसके साथ की माला मंमार की किसी भी भाषा के पास नहीं है। इसे पढ़कर यह आश्चर्य होता है कि वह कैसा अस्तिष्क रहा होगा जिससे इस सुकर क्रम का प्रकाश हुआ होगा। इस वर्ण-माला के वेप में साहित्यिकों ने, दार्शनिकों ने, आचार्यों ने, शास्त्र-कारों ने, श्रमियों ने, मनोपियों ने और मुनियों ने सरस्वती का अक्षय भण्डार भरकर हमारे सामने रख दिया है जो जाति की अक्षय सम्पत्ति है और जो हमारा जीवनाधार है। यदि संस्कृत है तो भारत है, यदि संस्कृत नहीं तो भारत कुछ नहीं। भूत और भविष्य के अन्तर को ही तो वर्तमान कहते हैं। भूत की भित्ति पर वर्तमान बनता है। भारत का भविष्य बड़े ऐश्वर्य का सङ्केत कर रहा है। यह तब तक न होगा जब तक हम जातीय जीवन में अपनी चिन्तन-साधना के संचय को पुनः न अपना लेंगे। रामायण और महा-भारत की अनरवर निधि हमारे जातीय गौरव का अद्वितीय प्रतीक हैं। मर्यादा पुरयोत्तम राम का निःस्वार्थ जीवन, सती सीता का पालिष्य तथा योगि-राज श्रीकृष्ण का गीतामृत रूपी सन्देश मृत जाति को भी पुनरुज्जीवित करने का बल रखते हैं। केवल इनके अध्ययन और उचित रीति से अध्यापन को आवश्यकता है। रामायण में सुन्दर काण्ड, महाभारत में से श्रीमद्भगवद्गीता, कवियों में कालिदास, अश्वघोष और विविध पद्य-संग्रह में मनुहरि आदि



लेखकों के ग्रन्थों से उद्धरण इस संग्रह में लिये हैं। रामायण की पुराने कहानी, कृष्ण की अमृत वाणी और कालिदास की मागुरी जितके कानों में पड़ गईं उसे संस्कृत काव्यामृत का रस प्राप्त हुए बिना नहीं रह सकता, यह हमारी दृढ़ धारणा है।

संस्कृत साहित्य दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वह जो वैदिक भाषा में है और दूसरा वह जो लौकिक भाषा में है। इस संग्रह का श्रीगणेश रामायण से किया गया है। क्योंकि वैदिक साहित्य के अनन्तर प्रथम स्थान महाकवि वाल्मीकि को ही दिया गया है।

### वाल्मीकि रामायण

संस्कृत साहित्य की विभूतियों में रामायण एक अनुपम रत्न है। यह एक ग्रन्थ है जिसे आदि काव्य होने का गौरव प्राप्त है। संस्कृत-साहित्य के अनेकों क्षेत्रों के लिए यह ग्रन्थ चिरकाल तक उपजीव्य बना रहा है। कालिदास, भवभूति आदि प्रमुख कवियों ने आदि-काव्य के अनुशीलन से ही स्फूर्ति पूर्व प्रेरणा प्राप्त कर काव्यमय रचना की थी। अनेकों काव्य तथा नाटक रामायण के कथानकों के आधार पर लिखे गए हैं जिनमें सबसे प्रमुख रघुवंश तथा भास-भवभूति के नाटक हैं। अनेक कवियों के लिए राधायण ने पद्य-प्रदर्शन का कार्य किया है।

भारतवर्ष में रामायण का प्रचार चिरकाल से रहा है। पर इस युग में रामलीला और रामायण की कथा का स्थान 'मिनेमा' तथा 'रेडियो' ने ले लिया है। फिर भी चित्रपट पर 'रामराज्य' और 'भरत मिलाए' जैसे दृश्य और रामायण की कथा-वार्ता, रामायण की उस खोजकवद उक्ति को प्रमाणित करते हैं जो हमें रामायण के दूसरे ही सगं में मिलती है:—

“यावत्तथास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।

तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥”

क्या सचमुच ही रामायण का ऐसा महत्त्व है कि उसका चटन-पाठन तथा दर्शन किसी-न-किसी रूप में भारतीय जनता के लिए अनिवार्य समझा जाता है ? इसमें कोई आपत्ति नहीं। इसके कारण हैं—

रामायण और भारतीय सभ्यता एक दूसरे के प्रतीक हैं। भारतीय-सभ्यता का जहाँ कहीं प्रचार हुआ, वहाँ वाल्मीकि रामायण का प्रभाव विशेष रहा। हिन्दु-समाज की संस्कृति की नींव गृहस्थ-धर्म है। चाहे यह मूलाधार शिला

इस लयाकथित ( So-called ) वैज्ञानिक युग में क्षिन्न-भिन्न होती जा रही है, पर फिर भी लोगों की दृष्टि मर्यादा पुरुषोत्तम राम की ओर पड़े बिना नहीं रह सकती। आर्य वीर राम और आर्या सती सीता भारतीय सभ्यता का प्रतिनिधित्व अमन्तकाल तक करते रहेंगे। राम आदर्श वीर हुए हैं। इस बात का उल्लेख वाल्मीकि ने बालकाण्ड के प्रथम सर्ग में ही बड़ी ओमस्विकी भाषा में किया है।

तपमें निरत वाल्मीकि मुनि के पास नारद जी ने राम के गुण और स्वभाव का वह चित्र खोचा है, जिसको उद्धृत किये बिना राम के दर्शन नहीं हो सकते। मर्यादा-पुरुषोत्तम का चरित्र-चित्रण वाल्मीकि ने इन शब्दों में किया है।

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः धृतः  
 नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान्वशी ॥ १ ॥  
 युद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमान् शत्रुनिबर्हणः  
 विपुलांसो महाबाहुः कम्बुमोवो महाहनुः ॥ २ ॥  
 महोरसो महेष्वासो गृहजन्तुररिदमः  
 आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥ ३ ॥  
 समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्  
 पीषवक्ष्म विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ॥ ४ ॥  
 धर्मशः सत्यसन्धरच प्रजानां च हिते रतः  
 यशस्वी ज्ञान-सम्पन्नः शुचिर्वरयः समाधिमान् ॥ ५ ॥  
 प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिपूदनः  
 रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥ ६ ॥  
 रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता  
 वेदवेदाङ्ग - तत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥ ७ ॥  
 सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः मतिमान् प्रतिभानवान्  
 सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥ ८ ॥  
 सर्वदाभिमतः सङ्गिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।  
 आर्यैः सर्वसमरचैव सदैव प्रियदर्शनः ॥ ९ ॥

इस प्रकार नारद मुनि ने प्रारम्भ से लेकर अन्त तक संक्षेप से राम-कथा वाल्मीकि को सुनाई। तदनन्तर मुनिपर वाल्मीकि तमसा नदी के तीर पर भ्रमण कर रहे थे कि उन्होंने एक व्याध से बिद्ध कौशिक को देखा और उसके जिप विस्त्राप करने वाली कौशिकी का करुण शब्द सुना इस घटनाके गहरे प्रभाव से आविष्ट होकर उनके मुख से ये शब्द निकले जिनमें हृदय-वेदना स्वतः

प्रस्फुटित हो रही थी। ऋषि की कल्प-कहानी से द्रवित होकर राम-चरित की वेदनामयी कथा को सीता-वनवास से सीता-वन-त्याग तक कह सुनाया। जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, जब मनुष्य का चेतना-प्रवाह क्या-क्या कुछ कर दिखाता है। अर्जुन को वेदना हुई, भगवान् श्रीकृष्ण को गीतामृत का संचार करना पड़ा। भगवान् गौतम को वेदना हुई, तब बौद्ध विचारों की सृष्टि हुई। अथर वाल्मीकि की वेदना ने संसार के गोक को श्लोकमय कर दिया। ऐसा महाकाव्य रचा कि जिसकी तुलना संसार-भर का कोई महाकाव्य नहीं कर सकता। राम-कथा की रमणीयता, वाल्मीकि की भावुकता, उनकी शैली की तन्मयता, भाषा की सरसता भावों की गम्भीरता एवं स्वामाविकता और बार्तालाप की यथार्थता तथा सबलता इस ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति में टपकती है। यही महत्ता थी जिसके कारण वाल्मीकि के जीवन-काल से ही इस अनुपम ग्रन्थ-रत्न का प्रचार हो चला था। श्रीराम ने स्वयं इसका गायन सुना। ऐसे लेखक विरले ही होते हैं जिनकी रचना का सम्मान उनके जीवन-काल में ही इतना होता हो जितना कि वाल्मीकि की कृति का उनके जीवन-काल में हुआ है। रामायण-भापुरी का आस्वादन वाल्मीकि की प्रत्येक पंक्ति में होता है।

गौतमबुद्ध से पहले ही रामायण का निर्माण हो चुका था। वाल्मीकि-रामायण को आधुनिक प्रति में २५००० श्लोक मिलते हैं। इसके तीन संस्करण प्रचलित हैं—बम्बई, बंगीय और कारमोरी। इस आदि काव्य के निर्माता कहीं रहते थे ? उनका कौन-सा समय है ? उन्होंने क्या क्या लिखा ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर इदमित्थं रूप में नहीं दिया जा सकता। संस्कृत का प्राचीनतम साहित्य प्रायः देश की निजी सम्पत्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। लेखक अपना नाम-पता बताते सङ्कचाले हैं। उस समय, सर्वाधिकार सुरक्षित रखने की प्रथा नहीं थी। कौन प्राय, कौन स्थान, ~~प्रति का प्रचार न पाने~~ विश्व-कल्याण के लिए सर्व-सामान्य जन-समुदाय के हित के लिए ग्रन्थ रचे जाने थे। वह साहित्य-क्षेत्र में व्यापार का युग नहीं था। विश्वजनीन प्रेम, सद्भाव और हित-बुद्धि साहित्य का संदेश समझा जाता था।

कालिदासादि महाकवियों ने वाल्मीकि के सम्बन्ध में यों कहा है—सीता वन-त्याग का वर्णन करते हुए रघुवंश १४--७० में लिखा है—

वाम्ब्यगच्छद्दुदितानुसारी कविः कुशेभ्राह्मणाय यात ।

निपाद्विद्वारहजदर्शनोत्थः श्लोकत्यमापद्यत यस्य शोकः ॥

इसी श्लोक का उद्गार वाल्मीकि ने इस पद्य में किया था—

मा निषाद् प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।

यत्कौञ्चमिधुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

मानवीय शोक को सागर वाल्मीकि के हृदय में उमक पड़ा और उस आवेश से उनकी कोमल वेदना सारस्वत सन्दोह में फूट पड़ी । आदर्श जीवन का लक्षण जैसा वाल्मीकि ने अंकित किया है वैसा किसी और से नहीं हो सका । करुण-काव्य-कथा यह राम की ही नहीं प्रत्येक जीव-मात्र की हैं । तभी तो इतनी सहानुभूति, इतनी समवेदना इस कथा से जागृत होती है । यही तो रामायण की लोक-प्रियता का रहस्य है । वाल्मीकि का हृदय कुसुम से भी कोमल और धज से भी कठोर था । जिस मर्मस्पर्शों हृदय से मीठा-वनवाम लिया उसी वज्र-सम कठोर मन से सन्ता वन-न्याय और सीतान्तर्धान अंकित किया है । पाठक रामायण पढ़ता हुआ नतमस्तक होकर कहता है—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।

आरूढ कविताशास्त्रां यन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥

गार्हस्थ्य-प्रधान हिन्दू समाज का जो कुछ धर्म है वाल्मीकि ने श्रीरामचन्द्र जी को उसी का आदर्श प्रतिनिधि बनाकर दिखाया है । पुत्र रूप में, भ्रातृरूप में, पतिरूप में, मित्ररूप में ब्राह्मण-धर्म के रक्षक के रूप में, और अन्त में राजा के रूप में वाल्मीकि के राम ने अपनी लोक-पूज्यता को प्रमाणित कर दिया है । उन्होंने एक-मात्र अपनी धर्म-पत्नी के उद्धार के लिए ही रावण को मारा और प्रजा-रंजन के अनुरोध के कारण ही उन्होंने अन्त में अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया । वाल्मीकि रामायण में अतिमानव (Supernatural) अंश है, पर थोड़ा । इतना नहीं जितना लोक-प्रसिद्ध तुलसी-कृत रामायण—रामचरितमानस में । भगवद्भक्ति की लहर तुलसी में उमड़ आई है जिससे राम नर-देव हो गए हैं और अतिमानुषी लीला के प्रधान नायक बन गए हैं ।

वाल्मीकि रामायण में सात काण्ड हैं—बाल काण्ड, अयोध्या काण्ड, अरण्य काण्ड, किष्किन्धा काण्ड, सुन्दर काण्ड, लंका काण्ड, उत्तर काण्ड । भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से यह महाकाव्य अद्वितीय है । भाषा प्रसाद-गुण-युक्त तथा भाव सरस एवं मनोरम है । श्लोकों की भाषा सरल है और मन को बशीकरण का एक-मात्र मन्त्र है । इनमें वह रम है जो परधर को भी पिघला दे । इस महाकाव्य में आदर्श नर-नारी, पतिव्रता नारी और पत्नी-वत नर की करुण कहानी का क्रन्दन ही ध्येय प्रतीत होता है, वास्तव में मनुष्य के नरवर जीवन की रत्नाने वाली कहानी है ।

रामायण-भाषुरी और उसकी रमणीयता प्रत्येक पद में टपकती है। चरित्र-चित्रण में वाल्मीकि ने अद्भुत काव्य-सृष्टि की है। महावीर हनुमान् जैमा सेवक, लक्ष्मण-भा भक्त और भरत-भा त्यागी किन्नी विरले ही साहित्य में मिलेगा। सीता का पवित्र आदर्श भारतीय नारी-जीवन में उत्तम प्रारम्भचारी प्रेम का उद्घोषण करता आया है जिसमें अमंल्य महिलाओं का प्रेम-स्रोत मरुते आदर्श की ओर अनवरत बहता आ रहा है।

रामायण में मानव स्वभाव का निरलेखण, हृदय की भावनाओं का उतार-चढ़ाव, उनका उद्रेक और उद्रेक वही ही मानिक भाषा में चित्रित किये गए हैं।

कालिदास धरनी उपमाओं के लिए, प्रहति-वर्णन के लिए, मनुष्य का हृदय ट्योड़ने के लिए, चरित्र-चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं; पर यह सिद्धा उन्हें कहीं से मिली ? यह कहा उन्होंने वाल्मीकि से सीखी। उनके वर्णन का अनुकरण संस्कृत के कई महाकवियों ने किया, पर वे वाल्मीकि की कोटि तक नहीं पहुँच सके।

साहित्यिक सौन्दर्य के कारण, आशाजता को पुनरुज्जीवित करने वाले सीता-सन्देश के कारण मुन्दर काल को कल्याण ही माना गया है। वास्तव में यह काल मुन्दर ही है। इसमें धरमीकि ने अपनी कम्नीय कल्पनाओं का कान्त-वक्षिण में, उज्ज्वल उपमाओं और उदात्त उल्लेखों द्वारा विशद वर्णन किया है और अपनी काव्य-कला का पूर्ण परिचय दिया है।

इसने इस काव्य-संग्रह में मुन्दर काल में सार लिया है और इसमें महावीर-पराम्प, समुद्र-लंघन, लंका-प्राप्ति, पुष्पक-वर्णन, सीता-दर्शन, सीता-परिठाप, हनुमद्विपाद, सीता-सन्देश प्रकरणों से सार लेकर वाल्मीकि के शब्दों में ही संचिप्त कर दिया है, जिसमें कोमल-भक्ति मुकुमार बालकों की रवि बाल्मीकि-रामायण की ओर प्रवृत्त हो और हमारी पुनीत परम्परागत मानसिक सम्पत्ति हमारे हृदय में स्थापित बनाये रखे। सीता के मुन्दर वाक्य क्या ही आशा को अंकुरित करते हैं—

कल्याणी वत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे ।  
एतं जीवन्तमानन्दो नरं वर्ष-शतादपि ॥

### महाभारत

वाल्मीकि के अनन्तर प्यास का नाम लिया जाता है। यदि वाल्मीकि आदि-कवि हैं तो प्यास विश्व-कोष के रचयिता। क्योंकि प्यास महाराज की अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार महाभारत वह ग्रन्थ है जिसमें पुरपथ-चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का परिपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। वह लिखने हैं—

धर्मं अर्थं च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।  
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

महाभारत में एक लाख श्लोक हैं। इसीलिए इसको शतसाहस्रीसंहिता कहते हैं। इस विशालकाय ग्रन्थ में काव्य की अपेक्षा ऐतिहासिक अंश अधिक होने के कारण इसे महाकाव्य न कहकर इतिहास कहा गया है। इस महाकाव्य ग्रन्थ का विकास तीन रूपों में हुआ प्रतीत होता है। इसका मौलिक रूप 'जय' नामक था जो तदनन्तर 'भारत' और 'महाभारत' के नाम से विख्यात हुआ। महाभारत के अठारह पर्व हैं। भीष्म-पर्व के प्रारम्भ में ऐसी घटना का वर्णन है जो हृदय में उथल-पुथल मचाने वाली है।

संग्राम झिड़ने वाला है। सब तैयारियाँ हो चुकी हैं। वीर महारथी अपने-अपने स्थान पर शस्त्र कवच धारण किये सन्नद्ध बैठे हैं। यहाँ तक कि लड़ाई का मारु बाजा भी बज चुका। शंख-नाद हो चुका। तीर कमान से छूटना ही चाहते थे कि अकस्मात् वीर अर्जुन पर उदासी छा गई। उसके निर्भय मन में यह मोह छा गया जिससे हतोरसाह होकर शोक में हुआ हुआ वह सोचने लगा कि लड़ना पाप है। यह नहीं कि यह पहले कभी लड़ा न हो या कौरवों से पहले उसकी मुठभेड़ न हुई हो। कई बार उमने शत्रुओं का संहार किया था। लड़ाई में कभी पीठ न दिखाई थी। मानव-हृदय की चाल निराली है। कोई अनुपम मुहूर्त ऐसा आ जाता है जो जीवन-स्रोत की दिशा को ही बदल देता है। इतिहास में ऐसी घटनाओं की गिनती करना कोई कठिन कार्य नहीं। हम अपने जीवन में भी यह अनुभव करते हैं।

ऐसे (Psychological moment) मनोवैज्ञानिक षण में अर्जुन के हृदय ने पलटा रखा। श्री कृष्ण जिसके सारथी हों, उसे हार-स्रोत से बचा कर ! पर वह श्री कृष्ण के समझाने पर भी कह बैठा—

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।

जब कोई ऐसा दुराग्रह कर ले कि जाओ मैं काम नहीं करता, तब ऐसे हठी को कार्य में प्रवृत्त करने के लिए जोर लगाना पड़ता है। बलात्कार किया तो बया किया, वह तो पारशुकि व्यवहार है। जो कर्म-प्रवृत्ति हृदय से जगती है वही सच्ची प्रेरणा होती है। पर उम प्रवृत्ति का जगाना बिना किसी योगिराज के नहीं हो सकता। कर्तव्यपरायणता रूपी योग का उपदेश भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को दिया जो उपदेश केवल अर्जुन के लिए ही नहीं था अपितु मनुष्य-मात्र-के लिए निरवध्यापी सर्व-कल्याणकारी आदेश था, जिसका प्रचार आज का युग-धर्म बन गया है। यह उमी उपदेश का फल था कि चात्र-धर्म को भूला हुआ अर्जुन ठीक रास्ते पर आगया। गीतोपदेश की

समाप्ति पर वही मोह-प्रस्त अर्जुन, जो रथ पर धनुष-बाण छोड़कर हतोत्साह हुआ बैठा था, विनम्रभाव से श्रीकृष्ण से कहने लगा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा... करिष्ये वचनं तव ।

गीता-समाप्ति के अनन्तर भीष्म-पर्व के ४३ वें अध्याय में मंत्राय कहते हैं—

ततो धनञ्जयं हृष्ट्वा वाणगाएहीवधारिणम् ।

पुनरेव महानाट्ट व्यस्तृजन्त महारथाः ॥

भीष्मपर्व ॥ ४३ ॥ ६ ॥

गीताभाष्य का उत्तम उदाहरण हमने दूसरा क्या हो सकता है ?

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत के मध्य में आती है। भीष्म-पर्व के पञ्चोत्तम अध्याय से आरम्भ होकर बयालीसवें पर यह भगवद्गीता समाप्त होती है। यह देदीप्यमान निर्मल हीरा, भारत का गौरव-ग्रन्थ, ईश्वरीय संगीत सुनाने-वाला तथा अमर सन्देश देने वाला है। जो सुनेगा और उस पर आचरण करेगा वही असूत-पद को प्राप्त करेगा।

साहित्य के अनमोल रत्न गीता के अठारह अध्याय हैं। हमने इस संग्रह में गीतासार दिया है। गीता के ७०० श्लोकों का सार गीता के अपने शब्दों—श्लोकों में दिया है। जिन पाठकों के लिए यह संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है, उनकी आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए हमने गूढ़ दार्शनिक अंशों को छोड़कर गीता के सम्पूर्ण कर्मयोग के उपदेश को यहाँ रखा है। अर्जुन का विषाद और श्रीकृष्ण का निष्काम कर्म करने का उपदेश भली-भाँति हृदयंगम कराने का प्रयास किया है। इस उपदेश को धरितार्थ करने के लिए कैसा आहार-व्यवहार होना चाहिए, इसका भी उल्लेख दिग्दर्शनार्थ किया है। हमने हमारे युग-धर्म के प्रवर्तक नवयुवक व्यास-प्रमाद की ग्रहण कर जीवन को सफल बना सकेंगे। कठिन-मे-कठिन विषय का मरल-से-मरल भाषा में प्रतिपादन गीता से भिन्न और किन्हीं पुस्तक में नहीं हुआ। इस संग्रह में भाषा और भाव दोनों की सरलता और सरमता पर विशेष ध्यान रखा गया है।

### गीतामृत

गीता में हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति के प्रमुख विचार अत्यन्त सुन्दर और सरल भाषा में वर्णन किए गये हैं। यह ग्रन्थ भारतीय प्रतिभा का सार है। इसकी महत्ता का हमसे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि हम ग्रन्थ-रत्न का अनुवाद संसार की प्रायः सभी मध्य भाषाओं में हो गया है। संसार के कोने-कोने में गीता के प्रसारक विद्यमान हैं, जिनके जावन इस अद्भुत ग्रन्थ की सिद्धा के अनुकरण से विकास को प्राप्त हो रहे हैं।

इस गौरवमय रचना में ज्ञान-कर्म और भक्ति का अत्यन्त सन्तोष-जनक मेल कर दिया गया है। आत्मा की अमरता, परमात्मा की सर्व-व्यापकता समस्त स्थावर और जंगम जगत् की इसी महाशक्ति में विद्यमान, विभूतियों का वर्णन और ग्यारहवें अध्याय में सारे ब्रह्माण्ड को पुरुष-ब्रह्म के रूप में प्रस्तुत करना इत्यादि सब बातों की गीता का ज्ञान-काण्ड कहना चाहिए। इस ज्ञान से इस बात का निरचयात्मक ज्ञान हो जाता है कि सब घटनाएँ परमात्मा की शक्ति और इच्छा से हो रही हैं, तथा मनुष्य की अल्पज्ञता और अज्ञान ही उसके दुःख का कारण हैं। बारहवें अध्याय में भक्ति के लक्षण बड़े सुन्दर रूप में किये गए हैं। गीता में ज्ञान ने भक्ति का रूप धारण किया है। जब परमात्मा की विद्यमानता और उसकी सर्वशक्तिमत्ता का भान हो गया, तब उसको सब-कुछ अर्पण किये बिना और कोई चारा नहीं रहता।

ज्ञान और भक्ति के साथ कर्म का अत्युत्तम मेल कर दिया गया है। तीसरे अध्याय में यह बता दिया गया है कि कर्म के बिना एक क्षण के लिए भी कोई प्राणी नहीं रह सकता। इसलिए कर्म किस प्रकार करना चाहिए, यह रहस्य गीता हमारे सामने स्पष्ट करके रखती है। कर्म का रहस्य यही है कि हमारे कर्म निष्काम हों। निष्काम कर्म का यह अर्थ नहीं कि हमारे कर्म बिना प्रयोजन के होने चाहिए, प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि जिस अवसर पर जो कार्य करना उचित और आवश्यक है, उसको अवश्य करना चाहिए। उसके करने में और किसी बात से प्रभावित नहीं होना चाहिए।

में क्या करना चाहता हूँ और मुझे क्या करना चाहिए, इन दोनों बातों में कई बार अन्तर पड़ जाता है और एक समस्या-सी खड़ी हो जाती है। ऐसी अवस्था में 'मुझे क्या करना चाहिए' इसी बात को अपने सम्मुख रखना आवश्यक है। अर्जुन युद्ध करना नहीं चाहता; भगवान् श्रीकृष्ण उसे यही ज्ञान देते हैं कि इस समय युद्ध करना कर्तव्यानुरोध (Obligatory) है। इच्छा का होना या न होना तो इस बात का निर्णय नहीं कर सकता कि किये अवसर पर कौन-सा कर्म आवश्यक है। इसी कर्म करने की कुशलता को भगवान् श्रीकृष्ण ने योग के नाम से पुकारा है 'योगः कर्मसु कौशलम्'। इस योग में मनुष्य को सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, सफलता-असफलता, जय-पराजय को देखना नहीं होता, प्रत्युत शुद्ध हृदय से अपने कर्तव्य कर्मों का पालन करना होता है।

सोलहवें अध्याय में देवी आसुरी सम्पत् का वर्णन करके नैतिक जीवन का बहुत ही अच्छा विवेचन किया गया है। बात यह है कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने पूर्ण जीवन का चित्र खींचकर रख दिया है और उसमें सारे रङ्ग



इस प्रकार भर दिये हैं कि उनके बाहर कुछ रह नहीं जाता ।

गीता पर विशाल साहित्य की सृष्टि होती आ रही है । पता नहीं यह अनुपम ग्रन्थ कब महाभारत से पृथक् रूप में सङ्कलित किया गया । गीता पढ़ते समय लोग प्रायः यह नहीं समझते कि वे महाभारत ही पढ़ रहे हैं । इसका अपना स्वयंभूत अस्तित्व है जो मुक्ताहार में मध्यमश्रेणी के सरल सारे महाभारत को उद्घोष कर रहा है ।

इस ज्ञान-निधि ग्रन्थ पर असंख्य भाष्य, अनेक प्रवचन, अंगलिखित टीकाएँ लिखी गई हैं और इसके अग्रगण्य अनुवाद हो चुके हैं और इतने गवेषणात्मक निबन्ध लिखे जा चुके हैं कि पुस्तकालय में गीता-साहित्य का एक पृथक् विभाग बन सकता है । संस्कृत में शङ्कर प्रभृति अनेक आचार्यों ने इस पर अपने विचार लिखे हैं । लोकमान्य तिलक का 'गीता-नृत्य', गान्धी का 'अनामक्ति-योग' और अरविन्द के Essays on Gita इस प्रसिद्ध ग्रन्थ पर प्रमुख विवेचन हैं ।

यह उपनिषदों का सारभूत ग्रन्थ अक्षरमति वाक्यों के त्रिपु भाव-रुचि से युक्त है, परन्तु भाषा की दृष्टि से सरल और सुबोध है । इस पुस्तक में जो काव्य-गुण हैं उनका परिचय विशेष रूप में ११ वें अध्याय में मिलता है । यों तो समस्त गीता ही सर्व-प्रिय काव्य है पर ग्यारहवें अध्याय में भगवत्सुक्ति को अनोखी ऋजक ऋजकती है । गीता निष्पन्नवीन तथा रम्यपूर्ण है । किसी रसिक को पढ़ो, किसी स्थल का मनन करो सर्वश्रेष्ठ रस मिलेगा, नीरसता का तो नहीं भ्रम नहीं ।

श्रीमद्भगवद्गीता धर्म-ग्रन्थों में मुकुट-मणि है । काव्य की शक्ति का अनोखा उदाहरण है । गीता का उपदेश "अशोष्यात्तन्वशीचस्त्वम्" से प्रारम्भ होकर "अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" पर समाप्त होता है । इस उपदेश को सुनकर अर्जुन फिर से घायपारी होकर लड़ने के लिए सन्नद्ध हो गया था । कर्तव्य-परायण बनने के लिए ही तो सद्बुद्धि का उपदेश समाप्त हुआ तब अर्जुन को युद्ध के लिए सन्नद्ध पाया । अतः गीता हमें यही सिखाती है कि हम भी वही करें जो अर्जुन ने किया । जगत की समस्याओं को सुलझाने में अपने को असमर्थ दिखाकर लंगल की राह न लें, अपितु जीवन-संप्रदान में धीर-योद्धा की तरह नाग लें और अपने कर्तव्य 'कर्म्मण्येषाधिकारस्ते' का पालन करें । साहित्य में सञ्जीवनीपथि का काम करने वालो, मूढक को जिलाने वाली यदि कोई पुस्तक है तो वह गीता है, जिसके अध्ययन से 'मृतो भानुपतां मञ्जु'—मृत हुआ भी जो उठता है; हतोत्साह भी कार्य-परायण हो जाता है ।

गीता की भाषा की सरलता हमारा ध्यान आकृष्ट करती है । इसमें न तो

थकाने वाले लम्बे लम्बे समाप्त हैं, न छन्दों की दुरुस्तता, न कठिन शब्दों का प्रयोग। जन-साधारण की भाषा में भगवान् ने अपनी मधुर वाणी सुनाई है। भाषा सरल है, भाव गम्भीर। भाव इतने गम्भीर हैं कि जितना भी मनन करो, निरर्थक नवीन अर्थ प्राप्त होता है। गीता में समूचे जीवन की व्याख्या है। यह काव्यमय ग्रन्थ मानव-समाज का सर्वशिरोमणि ग्रन्थ बनने के योग्य है।

वही अर्जुन जिसने कृष्ण के सारथित्व के बिना ही राजा विराट को नगरी में गोहरण के समय कौरवों को अकेले पराजित किया था, अब कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध के लिए तैयार दोनों सेनाओं को देखकर उसके मन में पाप-शङ्का और दया-वृत्ति का एक-साथ ही उदय हुआ। युद्ध से विरत होने का विचार करके उसने धनुष-बाण रख दिए और भगवान् से कहा—इस घोर पाप-रूपी युद्ध में प्रवृत्त होने की अब मेरी इच्छा नहीं। राज्य प्राप्त करने के लिए इन समस्त स्वजनों की हत्या करना मैं बड़ा भारी पाप समझ रहा हूँ। इन सबका विनाश हो जाने पर मुझे कभी सुख नहीं मिल सकता। अतएव इस प्रकार राज्य-प्राप्ति की अपेक्षा भीख माँगकर जीवन धारण करना मैं बहुत अच्छा समझता हूँ। अर्जुन के विपाद को दूर करने के लिए और उसे कर्म-भाग में प्रवृत्त करने के लिए भगवान् ने इस कर्म-योग का उपदेश दिया है। भगवद्गीता के अठारह अध्यायों में इस कर्म-योग-शास्त्र का प्रतिपादन हुआ है।

आत्मा की अमरता का उपदेश देते हुए भगवान् चात्र-धर्म की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि आततायियों को मारना चात्र-धर्म है, पाप नहीं, स्वर्ग-प्राप्ति का साधन है। युद्ध-क्षेत्र से भागना बलीवता है, अनार्य व्यवहार है। पहले तो पृथ्वी का 'साम्राज्य' मिलेगा, स्वर्ग तो कहीं गया ही नहीं। उठो, युद्ध में दूट जाओ। इस स्वर्णविसर को हाथ से मत निकलने दो। जय-पराजय, हानि-लाभ, सुख-दुःख का कोई विचार मत करो, फलासक्ति को छोड़ो, ईश्वर-प्रीत्यर्थ कर्म करो। अनासक्ति-योग का आश्रय लो। कर्म करने का अधिकार तुम्हारा है, फल तुम्हारे अर्थात् नहीं। युद्ध का फल चाहे कुछ भी हो उस पर विचार न करो और इस स्वधर्म-कर्म में प्रवृत्त हो जाओ।

कर्म मार्ग की पुष्टि करते हुए भगवान् कहते हैं—अनासक्त-बुद्धि द्वारा कर्म करना योग कहलाता है। फल में आपसक्ति को छोड़कर कर्म में तत्पर रहना ही संन्यास का सार है। कर्म का सर्वथा त्याग ही नहीं सकता। शरीर धारण के लिए कर्म अनिवार्य है। जब कर्म करना ही पड़ता है तो योग-युक्त कर्म ही क्यों न किया जाय। अनासक्त भाव से कर्म करने पर ही देही

पाप का भागी नहीं होता । यह सत्य है कि मन चञ्चल है—अस्थिर है । हृत् की वश में करना हवा पर काबू पाने के सट्टा कठिन कार्य है । परन्तु अनासक्ति के अभ्यास से मनुष्य मन पर विजय पा सकता है और मन स्थिर हो सकता है । इसी स्थित-प्रज्ञता के आधार पर मनुष्य कर्म-योग का माधन कर सकता है ।

सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं तथा उन्हीं में जगत् प्रतिष्ठित है । हम ध्यान का अनुभव न होना ही हमारे दुःखों और पापों का कारण है । सत्य, रज, तम गुणों द्वारा अभिव्यक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी उन्हीं परमेश्वर की लीला है । इन्हीं को माया कहते हैं । मनुष्य अनन्य भक्ति द्वारा ही ईश्वर-प्राप्ति कर सकता है और मंत्र माया को समझ पाता है । तभी वह त्रिगुणाधीन, स्थित-प्रज्ञ या भक्त कहा जा सकता है ।

भगवान् कहते हैं कि इस भक्ति का उदय मेरी विभूतियों और गुणों के चिन्तन से होता है । भगवान् ने विभूतियों के वर्णन में कहा है कि सारे जगत् को अपनी विभूतियों के एक अंश-मात्र से धारण किये में स्थित हैं । अर्जुन की जिज्ञासा बढ़ने पर उसे विश्वरूप दिखाया । अर्जुन ने भक्ति-प्रद्व होकर भगवान् की स्तुति की, जिसमें भक्ति-काव्य की अनुपम धारा बही है । भगवद्दर्शन और भक्ति का ऐसा उदार तथा मरल वर्णन कदाचित् ही कहीं अन्यत्र मिलेगा ।

परम पिता परमेश्वर से ही सम्पूर्ण संसार प्रकट हुआ है । उसी को पुरोत्तम कहें चाहे ब्रह्मा । सब जीव इसी के अंग-मात्र हैं ।

देवी और आसुरी सम्पद् का विभाग करते हुए भगवान् ने भैतिक जीवन की ओर संकेत किया है । सत्य-निष्ठ का आचार-विचार, आहार व्यवहार कैसा होना चाहिए जिससे कि योग-माधन ठीक हो सके । यज्ञ, श्रद्धा, तप, त्याग और दान तथा सुख आदि कैसे होने चाहिए, इन सब पर विशद् रूप से विवेचन किया गया है । अर्थात् योगी बनने के लिए जोयन-निर्वाह कैसा होना चाहिए इसका लक्षण सुचारु रूप में कहा गया है ।

अन्त में भगवान् ने अपने अमर प्रवचन का उपसंहार करते हुए अठारहवें अध्याय में अर्जुन से यही कहा है कि फलाकांक्षा को छोड़कर अनामकतचित्त से कर्म करता जा । इसी में तेरा अधिकार है, इसी में तेरी विजय है, यही नीति है, और इसी के करने से तुझे किसी प्रकार का पाप न लगेगा, जिसमें तुझे डर लग रहा है । तू उठ और कर्तव्य-परायण बन । यही गीता का उपदेश है, इसी का अर्जुन ने अनुसरण किया और वश तथा कीर्ति का पात्र बना ।

## रामायण और महाभारत पर एक तुलनात्मक दृष्टि

रामायण और महाभारत दोनों भारतवर्ष के प्राचीन महाकाव्य (Epic) हैं। भारतीय जीवन पर इन दोनों महामान्य ग्रन्थों का प्रभाव बहुत गहरा पड़ा है। क्या धर्म-नीति, क्या साहित्य, सभी रामायण और महाभारत के विचारों से अनुप्राणित और जीवित हैं। यदि रामायण प्राचीन है तो महाभारत अर्वाचीन। रामायण-काल की सभ्यता महाभारत-काल की सभ्यता से अधिक सुसंस्कृत तथा शिष्ट प्रतीत होती है। मापेज दृष्टि से रामायण में उन्नत व्यवस्था है। परन्तु महाभारत की संस्कृति में क्रान्ति, विप्लव, संघोष, विषमता और अव्यवस्था सटकती है। रामायण की शोक-संख्या महाभारत की श्लोक-संख्या से कहीं बहुत कम है। रामायण एक व्यक्ति की साधना का फल है। महाभारत के जय, भारत और महाभारत के उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए संस्करणों में कई ऋषि-मुनिषों और कवियों की छाप दिखाई देती है। उक्त अन्तर दोनों महाकाव्यों को भाषा, भाव और शैली की तुलना से स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं।

रामायण के नायक राम का चरित्र आदर्श रूप में अद्विष्ट है और प्रति-नायक का उससे सर्वथा विपरीत। महाभारत के कौरव-पाण्डवों का जीवन वास्तविक एवं साधारण है। उनमें गुण भी हैं, दोष भी है। रामायण में भ्रातृ-स्नेह तथा महाभारत में भ्रातृ-द्रोह क्या ही अच्युत अद्विष्ट हैं। रामायण केवल 'राम-अयन' है अर्थात् राम के जीवन को आधार मानकर रचा गया है, किन्तु महाभारत विभिन्न प्रकार के व्यावहारिक चरित्रों का निचोड़ है। रामायण कहती है ऐसा होना चाहिए, महाभारत कहता है ऐसा होता है। तुलना की दृष्टि से यदि रामायण की संस्कृति धर्म-प्रधान है तो महाभारत की कर्म-प्रधान। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की कर्मयोगी कृष्ण से तुलना कीजिये। रामायण में चप्ये-चप्ये पर धर्म की दुहाई सुनाई देती है, परन्तु महाभारत में अहङ्कार-बुद्धि की प्रबलता है। अभिमान और दर्प पाशों की रग-रग में भरे हुए हैं। हाँ, इतना कहना न्यायोचित होना कि यदि महाभारत में राम जैसे आज्ञासत्क और त्यागी, भारत-जैसे भाई, हनुमान-जैसे भक्त और सीता-सी पतिव्रता नहीं मिलती तो रामायण में भी भीष्म से शानी, कृष्ण से तथ्य-दर्शी और द्रौपदी-सी मनस्विनी दुर्लभ है।

राम का धर्ममय धावरण और युधिष्ठिर की धृति-प्रवृत्ति, भरत-लक्ष्मण का भ्रातृ-प्रेम और कौरव-पाण्डवों का भ्रातृ-द्रोह राम तथा भरत का राज्य को दुकराना और दुर्योधन का राज्य-प्राप्ति के निमित्त घोर अनाचार आदि विपरीत भाव इन दोनों महाकाव्यों के अन्वयन से स्पष्ट प्रतीत होने हैं तथा पाठक को विचार-भंग बना देते हैं। रामायण के समय में शायन में प्रजा का हाथ

पर्याप्त मात्रा में था ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु महाभारत काल की प्रजा कठोर शासन के सामने चूँ तर्क नहीं कर सकती। दुर्योधन को आज्ञा का पात्रन भीष्म भी नतमस्तक हो मूक-भाव से करते हैं। द्रौपदी की दुहाई कोई काम नहीं करती। उस पर शत्रुाचार और उसके अपमान के समय भीष्म भी ताकते ही रहते हैं। वही भीष्म जो शर-शय्या पर भी शान्ति-पर्व गा सकते हैं, अपनी विवशता का कारण बताते हैं—'मैंने दुर्योधन का घन खाया है'। साम्राज्यवाद (Imperialism) का विरोध करना भीष्म की भी कठिन प्रतीत होता है। रामायण में सती-सीता का पातिव्रत्य और राम का एक पत्नो-व्रत, भले ही दशरथ की तीन पत्नियाँ थीं, महाभारत में सत्यवती और कुन्ती की कौमारवस्था में ही सन्तान-लिप्सा, पाण्डवों के अनेक विवाह और द्रौपदी के पाँच पति, ये सब वैवाहिक जीवन में भी दोनों संस्कृतियों का भेद दिखाते हैं।

युद्ध-क्षेत्र में भी आदर्श विभिन्न हैं। राम शस्त्र-रहित शत्रु पर हाथ नहीं उठाने, परन्तु महाभारत में शस्त्र-रहित भीष्म तथा द्रोण का वध, रथ से उतरे हुए कर्ण का वध और सोये हुए द्रौपदी-पुत्रों का वध होता है। सीता-हरण और द्रौपदी-हरण की घटनाओं में आकाश-पाताल का अन्तर है। महाभारत के नैतिक जीवन से रामायण का नैतिक जीवन (Moral life) बहुत ऊँचा है। महाभारत के समय विदेशी प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। विदुर विदेशी म्लेच्छ भाषा को जानते हैं। पुरोधन विदेशी है। वही लापा-गृह का निर्माण करता है। रामायण बौद्ध प्रभाव से सर्वथा असम्पृक्त है। महाभारत के आधुनिक रूप में बौद्ध-धरतार का उल्लेख मिलता है।

### अन्य काव्य-ग्रन्थ

संस्कृत में काव्य का लक्षण बड़ी सरल भाषा में लिखा गया है। हममें अधिक छोटा पर सारगर्भित लक्षण अन्य भाषा में मिलना बड़ा कठिन है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। वाक्य ही काव्य बन जाता है, यदि उसमें रस हो। रस क्या है? इसका स्पष्टीकरण भी सरल है। रस एक व्यापक परिभाषा है। कहने वाले की वाणी में रस है, इसलिए उसमें कवित्व है। बस, हमसे अधिक और क्या कहा जाय? चित्त का आह्लाद, मन की वृत्ति, हृदिद्रव्य-जन्य सन्तोष, आध्यात्मिक निवृत्ति ये सब रस के अन्तर्गत हैं। सारी भावुकता (Emotional Life) रस-वाचक है। रसीली उक्ति, बाँकी घटनावली, मिर की हिलाने वाली वाट्-माधुरी, कवित्व शक्ति के अन्तर्गत हैं।

संस्कृत साहित्य का आदिम ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण है, इसमें प्रगति है, नैमार्गिक प्रवाद है, कला है, रस है, सौन्दर्य है और है वह सत्य तथा शिव-। इर्म-लिपि वाल्मीकि आदिकवि अर्थात् कवि-शिरोमणि है। उसका काव्य महाकाव्यों में आदिकाव्य अर्थात् सर्व-प्रथम काव्य है। ऐसे काव्य को Epic कहने

जिसमें घटना (Action) की प्रधानता हो। इसमें प्राकृतिक वर्णन भी है, नीति-काव्य की मनोहरता भी है; पर है विशेषतः घटना-प्रधान। धार्मिक संस्कृति पूर्ण भारत में फैल रही थी; शान्ति का साम्राज्य अभी पूर्णतया स्थापित नहीं हुआ था; दुराचारी राजस न केवल दक्षिण में ही मिलते थे अपितु मथुरा में विद्रोह-शान्ति के लिए शत्रुघ्न को भी जाना पड़ा था। ठीक इसी काल का रामायण में मिलता है। साम्राज्यवाद तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था जोरों पर थी। महाभारत में समय-परिवर्तन दिखाई देता है। वैसे भी महानारत इतिहास की अधिकता है।

महाभारत के उपरान्त जो सिद्धान्त दृष्टिगोचर हुए उनमें सर्व-मुख्य बौद्ध-सिद्धान्त हैं। यही काल तथाकथित (so-called) ऐतिहासिक काल में हमारा पदार्पण कराता है। समय बड़ा लम्बा है। बौद्ध-काल के स्तुत साहित्य का प्रतिनिधि कवि अश्वघोष है। रामायण और महाभारत, उपरान्त अश्वघोष के काव्यों का उल्लेख अनिवार्य है। बौद्ध-काल ऐतिहासिक काल है, जिसमें भारतीय संस्कृति का विकास हुआ, भारत से बाहर उसका सन्देश सुनाया गया। रामायण-महाभारत के पीछे और अश्वघोष के हले के काव्य अब मुनाई नहीं देते। अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ के सामने सामान्य योग्यता के ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो ही जाया करते हैं।

महाकाव्य का जब प्रचार बढ़ा तब उसमें कला की मात्रा भी बढ़ने लगी। समाज की दशा भी अति जटिल होने लगी। प्राचीन सरलता का स्थान बाह्यात्म्य ने ले लिया। यही दशा साहित्य की हुई। रामायण के प्राकृतिक काव्य के भरनों का स्थान कृत्रिम तर्कों से सुशोभित, बेल-बूटों से अलंकृत, नगरों में बहने वाली नहरों और दीर्घिकाओं ने ले लिया।

यह युग समृद्धि का था, जिसका प्रभाव काव्य को हासमय पतन की ओर खेला गया। अश्वघोष और कई धर्मों में कालिदास को छोड़कर अन्य प्रमुख कवि भारवि, माघ प्रभृति इसी लहर में बह गये। रूढ़िवाद ने प्रगतिवाद का स्थान लिया। राज-सभा का ठाठ, उसका घातक, उसकी सज-धज, सब साहित्य में टपकने लगी। राज-सभा जैसे सबके लिए नहीं होती, वैसे ही उस सभा के लिए साहित्य भी रचा गया। साहित्य भी सीमा की परिधि में रूंध गया। रामायण की सार्वभौमता अब लुप्त सी दिखाई देती है। संकीर्णता अधिक है, व्यापकता कम है। अश्वघोष और कालिदास इस दोष से मुक्त लौकिक होते हैं, परन्तु उनके परवर्ती कभी भी इस दोष से मुक्त हो ऐसी बात नहीं, उन पर देस काल का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

### अश्वघोष

अश्वघोष-रचित बुद्ध-चरित के नायक राजकुमार सिद्धार्थ गौतमबुद्ध आज के २५०० वर्ष पूर्व कपिलवस्तु नामक राजधानी में दरपन्न हुए। उनका प्रभाव

ध्यान भी महान है । कितने पता था कि एक तपस्वी राजकुमार भिषुराज बन कर इतना महामान्य बन जायगा ? बुद्ध भगवान् को हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में अन्तार कहा गया है और उनको इस प्रकार उच्च पदवी दे दी गई है । उन्होंने स्वयं कोई पुस्तक नहीं लिखी । यहाँ तक कि बुद्ध का जीवन उनके समय में लिखा नहीं मिलता जैसे कि राम और कृष्ण का मिलता है । बड़े आश्चर्य की बात है कि रामायण महाभारत-जैसे किमी बौद्ध इतिहास-पुराण की सृष्टि नहीं हुई ।

बौद्ध साहित्य विशाल है । जैसे मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और योगिराज श्रीकृष्ण के जीवन रामायण-महाभारतादि इतिहास पुराण ग्रन्थों से संकलित किये जा सकते हैं उसी प्रकार बुद्ध भगवान् का जीवन-चरित्र भी मान्य बौद्ध-ग्रन्थों पिटकत्रय, महावस्तु, ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक आदि के आधार पर संकलित किया जा सकता है । ऐसा ही प्रथम प्राचीन काल में कनिष्क के समय महाकवि अश्वघोष ने किया । ये महाराज कनिष्क के समकालीन थे । इन्होंने बौद्ध-धर्म के प्रचार में अपनी काव्य-शक्ति का मनुष्ययोग किया । काव्य की सुललित भाषा में बौद्ध धर्म के तत्त्वों की समझाया । बुद्धचरित २८ सर्गों में लिखा गया है । सम्पूर्ण पुस्तक तो तिब्बत और चीनी भाषाओं में अनूदित मिलती है । संस्कृत में दूसरे सर्ग से तेरहवें तक तथा दो तिहाई भाग पहले सर्ग का और एक चौथाई भाग चौदहवें सर्ग का मिलता है । अश्वघोष की भाषा सरल तथा मधुर है और काव्यशैली भी कठिन नहीं । उपमाएँ सुन्दर एवं रोचक हैं ।

शारि पुत्र प्रकरण, मौदरानन्द इनके अन्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं । उनके ग्रन्थों में बौद्ध सिद्धान्तों का काव्यमय वर्णन तो है ही, परन्तु कालिदास और रामायण काल के अन्तराल का प्रतिनिधि होने का श्रेय भी इन्हें ही प्राप्त है, किन्तु तब तक यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता कि कालिदास और अश्वघोष में पूर्वापर कौन है जब तक कालिदास का समय निर्धारित न हो जाय । प्रसाद और माधुर्य में अश्वघोष कालिदास से किसी प्रकार कम नहीं, परन्तु काव्य-संस्कृति में कालिदास आगे बढ़े हुए हैं । काव्य-कला की दृष्टि से अश्वघोष कालिदास के समकक्ष नहीं हो सकते । जो प्रगल्भता और प्रौढ़ता एक परिमार्जित कवि में पाई जाती है वे अश्वघोष में नहीं । कवि-शिरोमणि की पदवी प्राप्त करने का अधिकार कालिदास को ही है । हमने प्रस्तुत संग्रह में बुद्ध का तपोवन-गमन अश्वघोष की रचना से, दिखीप का तपोवन-गमन कालिदास की कृति से लिये हैं, जिससे दोनों कवियों की भाषा, भाव और शैली की तुलना की जा सके । अश्वघोष ने दार्शनिक तत्त्वों की मधुर भाषा में लिखकर एक उपदेशक कवि का काम किया है । उनके नायक बुद्ध भगवान् धन्याय और विरक्ति में अधिक आस्था रखते हैं । उदनुसार अश्वघोष के ग्रंथों में भी यही वैराग्य की भावना प्रस्तुत होती है ।

## कालिदास

कालिदास की महिमा केवल इसलिए नहीं कि उसने सुन्दर काव्य-रचना की है, पर इसलिए कि वह अर्थ-संस्कृति का प्रतिनिधि-कवि है।

उसमें गीता में दिया गया 'कवि' का लक्षण 'कविं पुराणमनुशासितारम्' पूरा घटित होता है। कालिदास की कल्पना मनुष्य-वर्ग को आगे ले जाने वाली है। नई सूक्त, नये विचार, उनका अनुपम काव्य जाति में जीवन-संसार करने वाला है। कल्पित मनोवृत्तियों को तृप्त करने वाली रचना साहित्य नहीं कहा जा सकता। दित करने वाला सुख-दुःख में साथ देने वाला साहित्य ही सच्चा साहित्य होता है। कालिदास सच्चे साहित्य के मझा हैं। न केवल भारत-वर्षी ही, प्रत्युत अन्य देशवासी भी कालिदास को अभी तक क्यों नहीं भूल सके, इसका उत्तर उनकी कृतियों में ढूँँदिये।

कुमार सम्भव—कुमार संभव में गार्हस्थ्य जीवन का मनोरम विश्लेषण मिलता है। सामाजिक सुख शान्ति पति-पत्नी के सम्बन्ध पर आश्रित है। यदि उक्त सम्बन्ध पवित्र, शुद्ध, निर्दोष, अभिन्न, निर्भय, सरल एवं प्रेम-स्पन्द है तो जीवन यात्रा भी सुख तथा सफल होगी। सतीत्य की नींव पर ही हमारे ऋषियों ने जीवन-मवन पदा किया है और इसी का संदेश कालिदास ने सती और शिव के जीवन द्वारा कह सुनाया। कुमार संभव में उपस्था और प्रेम का आदर्श मेल हुआ है। कुमार संभव का यही विषय है। भाषा प्राञ्जल है। प्रकृति-वर्णन अनुपम है। 'उपमा कालिदासस्य' का यह अर्थ नहीं कि ये केवल उपमा अलङ्कार ही रचना में ला सकते हैं। उपमा तो अलङ्कार-मात्र का मूलाधार है। अन्य सय अलङ्कार उपमा से ही अनुप्राणित होते हैं। उपमा-जन्य विचार-सन्दोह ही अलङ्कृत भाषा का आधार है। ऐसी मधुर सुललित अलङ्कृत भाषा जिसने में कालिदास सिद्ध-हस्त हैं।

कालिदास का शृङ्गार-रस-वर्णन भी बड़ा उदार और उदात्त है। इसमें वासना का लेश भी नहीं। कन्दर्प का धनक होना कुमार सम्भव का ही विषय तो है। मार-विजय का उदाहारण भगवान् बुद्ध के जीवन में मिलता है। परन्तु उसमें गृहस्थ का संदेश नहीं। उसमें संन्यास मार्ग का उपदेश है जो प्रकाश होने के कारण जन-साधारण को नहीं सुहाता। उसके लिए कालिदास का कुमार सम्भव ही उपदेश है जिसमें दिव्य जीवन की कलक मिलती है।

रघुवंश में राम के वंश का चरित्र गाया गया है। राम के पूर्वजों और उत्तराधिकारियों का काव्यमय वर्णन इसमें मिलता है। इस महाकाव्य में स्याभाविकता, चरित्र-चित्रण की सरलता, सफलता तथा सरसता प्रत्यक्ष अनुभव होती है। भाषा सुगम है। रघुवंश की रोचकता उसकी सर्व-प्रियता में है। रामायण के उपरान्त यदि कोई ध्येय महाकाव्य माना जाता है तो वह रघुवंश ही है।



मृष्टि-सुपमा और मानवीय-प्रकृति का सर्वाङ्ग सुन्दर तथा विराट् वर्णन जैसा कालिदास की सरल भाषा में मिलता है वैसा अन्य कवियों की कृतियों में नहीं। मयभूति कालिदास में केवल कर्ण-रम-निरूपण में यशता है, परन्तु कालिदास की सर्वतोमुखी प्रतिभा को तुलना नहीं कर सकता। 'उत्तररामचरित' में सीता की कन्य कदानी रत्नाने वाङ्मे शब्दों में अवश्य लिखी है, किन्तु रघुवंश जैसी Epi. त्रिसर्वे ममस्य रसों का परिभाषक हुआ ही, मयभूति की क्षेत्रनी में न निकल सका। नाटक, काव्य, गीति, सबमें कालिदास की प्रतिभा की असाध्य गति है। कालिदास की लोक-प्रियता उनकी प्रसाद्युक्त शैली में है। कहीं विकलकृता नहीं, कहीं विषमता नहीं, कृत्रिमता का कहीं नाम नहीं।

हमने इस संग्रह में रघुवंश के द्वितीय सर्ग को उद्धृत किया है। इसमें आर्य-मस्कृति का सुन्दर उदाहरण मिलता है। वज्रिण के आश्रम में मयभूति दिक्षीप द्वारा नन्दिनी की सेवा और दिक्षीप की परीक्षा पाठकों को मुग्ध एवं स्वच्छ करने वाली है और पठन तथा मनन से ही सम्बन्ध रखती है। कालिदास की अमर कृतियाँ नित्य नई प्रतीत होती हैं, उनमें वार्थापन या फीकापन (Staleness) आ नहीं सकता क्योंकि वे अनवरत बढ़ने वाले जीवन की जीवी-जागती मूर्तियाँ हैं। जीवन के विराट् अनुभव का प्रतिबिम्ब उनकी कृतियों में मिलता है। उनकी प्रकृति-निरीक्षण, मनुष्य-स्वभाव-विरलेषण, गम्भीर और व्यापक स्वाध्याय, ये सब उनके ग्रन्थों में स्पष्ट दिखाई देने हैं। कवि-कुल-गुरु कालिदास की कीर्ति का महत्त्व इसी में भली प्रकार जाना जा सकता है कि यूरोप में संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन करने वाले उनके ग्रन्थ-रत्न ही हैं। जर्मन दार्शनिक गेटे ने विशेषतः शकुन्तला की मुक्त-कण्ठ से प्रार्थना की है।

### कालिदास के उपरान्त के कवि

अरवधोप और कालिदास के उपरान्त जो कवि हुए उनमें भाषा की विकलकृता और शब्द-निपुणता अधिक आता गई, भाव गौण होने गण और भाषा प्रधान, त्रिसर्वे काट्टे नवीनता उनमें न आने पाई। राज्याश्रित होने के कारण कवि लोग अपने अभिभावकों को प्रसन्न करने में ही कवित्व शक्ति को महत्त्वता समझने थे उनमें स्वतन्त्र रूप में काव्य-मृष्टि की कवि न रह गई थी। काव्य में परतन्त्रता आ चुकी थी। राज-ममाश्रयों के मनो-चिन्तन के लिए कविता का प्रयोग होने लग पड़ा था। साम्राज्यवाद पूरे झोरों पर था। रामायण की सरलता और तीव्र वेगमयी वाचारा अब लुप्त हो चुकी थी। कृत्रिमता की बाढ़ आ रही थी। राजाश्रयों की भोग-लिप्सा ने काव्य को भी क्लृप्त कर दिया। काम-शास्त्र, यलद्वाह-शास्त्र और काव्य-शास्त्र एक हो गये त्रिसर्वे कवित्व-शक्ति को बड़ी हानि पहुँची। रुढ़िवाद ने घात बॉवनी प्रारम्भ कर दी। कवि का (Genius) प्रतिभा-

शालिख ऐमे गोरख-धन्धे में जकड़ा गया, ऐमे कीचड़ में जा फँसा जिममे निरुलना कठिन हो गया ।

वैयक्तिक निरीक्षण, निजो अनुभव, विचार-स्वातन्त्र्य सब लुप्त हो गये । पराधीनता इतनी बढ़ी कि उसने मोह-मन्त्र का काम किया । कवि अपने-आपको भूल गया और लगा चक्कर काटने नर-राज की भूल-भुलैयाँ में । काव्य का छोट मन्द हो गया । नये साहित्य की आवश्यकता प्रतीत होने लगी । यही आवश्यक साहित्य कुछ शताब्दियों के उपरान्त हिन्दी के भक्ति-काव्य में भारत को मिला ।

यों तो संस्कृत साहित्य में रचना-शैली-भेद से गद्य-पद्य का पृथक् वर्गीकरण नहीं किया गया । गद्य-पद्य लेखकों को कवि कहा गया है । काव्य, नाटक आदि सब एक ही सूत्र में इस प्रकार पिरोये गए हैं जैसे माला में विविध मणि । केवल विभाग-दृष्टि से हम कह सकते हैं कि रामायण-महा-भारत के रचयिता वाल्मीकि-व्यास के अतिरिक्त प्रमुख कवि ये हैं—शरदघोष, कालिदास, भारवि, माघ, रत्नाकर, श्रीहर्ष । इसी प्रकार नाटककारों में प्रसिद्ध नाटककार भास, शूद्रक, कालिदास, हर्षवर्धन, भवभूति, विशाखदत्त, भट्ट नारायण, राजशेखर और कृष्ण मिश्र हैं । प्रसिद्ध गद्य-लेखक दण्डी, सुबन्धु और बाण हैं ।

काव्य कई रूपों में लिखा जा सकता है । महाकाव्य, नाटक, गद्य आदि रूपों के अतिरिक्त गीति-काव्य भी एक रोचक रूप है । इसमें प्रधान कृतियाँ ये हैं—अनु-संहार, मेघदूत, सप्तशती, भर्तृहरिशतकत्रय, अमरशतक, गीत-गोविन्द, भामिनी-विलास ।

शाक्यान-साहित्य में पञ्चतन्त्र और हितोपदेश तो प्रचलित हैं ही, परन्तु सर्वप्रमुख खोत-रूप में 'बृहत्कथा' कथासरित्सागर, बृहत्कथा मञ्जरी विश्व-साहित्य में भी उच्च पदवी प्राप्त करने योग्य है । ऐतिहासिक काव्यों में हर्ष-चरित और राजतरङ्गिणी प्रसिद्ध हैं । गद्य-पद्यमय काव्यों में रामायणचम्पू, नज्जचम्पू, अरदाभिरुपापरिणयचम्पू आदि प्रसिद्ध हैं ।

### भर्तृहरि

भर्तृहरि के नौतिमय काव्य में कुछ एक गीतियाँ इस संग्रह में उद्धृत की गई हैं । भर्तृहरि को संसार का बड़ा अनुभव था । इनकी मार्मिक भावुकता का परिचय इनके शतकों से मिलता है । जीवन के विविध अनुभव मधुर, कड़ु, तीक्ष्ण और दारुण इनकी कृति में मिलते हैं । विविध छन्दों में नौतिरसन इस प्रकार जड़े हुए हैं कि काव्य-मधुरिमा पद-पद पर टपकती है और उसका आस्वाद लेते ही बनता है । भर्तृहरि की सूक्तियाँ लोकगीतों के रूप में प्रचलित हैं । यथा—'शील परं भूपणम्'—'मूर्खस्य नास्त्वौपचम ।' 'मत्सङ्गतिः

कथय किं न करोति पुंसाम् ।' यदि वैराग्य शतक में करण रस का परिपाक हुआ है तो मोक्षशतक में जीवन-व्यवहार का पथ-दर्शन किया गया है । शूद्रार-शतक में प्रवृत्ति-मार्ग का दर्शनेत्र है तो वैराग्य में निवृत्ति-मार्ग का । 'सृष्ट्या न जीर्णा वयमेव जीर्णाः' कहकर कवि ने वैराग्य की पुष्टि की है । मर्तृहरि कवि, वैयाकरण और राजनोविज्ञ थे, परन्तु कविता की महिमा उनकी कृतियों में प्रचुर मात्रा में मिलती है । 'मुकदित्वा चेत् राजनेन किम्' आदि आदि उनकी रचनाओं में विचार-स्वातन्त्र्य स्यात्-स्यात् पर टपकता है । मर्तृहरि के काव्य-कौशल का परिचय हम संग्रह में मिलेगा ।



### विषयानुक्रमिका

श्रीमद्भागवतमीमांसा रामायणे	सुन्दर काण्डम्	२२
श्रीमद्भगवद्गीतायाम्	अर्जुनविषादः	२७
"	श्रीकृष्णोपदेशः	६०
"	कर्मयोगः	९७
"	योग-साधन विधिः	१००
"	महियोगः	१०३
"	ज्ञानरक्षणम्	१०६
"	शुद्धशय-विनाश योगः	१०९
बुद्धचरिते सप्तमः सर्गः		११३
शुद्धचरिते द्वितीयः सर्गः		१००
श्रीवैराग्य शतकः		१२१
वैराग्य शतकः		१२६



# श्रीमद्वाल्मीकिरामायणे

रामायणशिरोमणिटीकासमेतम् (संचिप्तम्)

## सुन्दर-काण्डम्

ततो रावणनीतायाः सीतायाः शत्रुकर्षणः ।  
इयेष पदमन्वेष्टुं चारणाचरिते पथि ॥ १ ॥  
स सूर्याय महेन्द्राय पावनाय स्वयम्भुवे ।  
भूतेभ्यश्चाञ्जलिं बध्ना चकार गमने मतिम् ॥ २ ॥  
उत्पपाताय वेगेन वेगवानविचारयन् ।  
सुपर्णमिव चात्मानं मेने स कपिकुञ्जरः ॥ ३ ॥  
स सागरमनाधृष्यमतिक्रम्य महाबलः ।  
त्रिकूटशिखरे लङ्कां स्थितां स्वस्यो ददर्श सुः ॥ ४ ॥  
गिरिमूर्ध्नि स्थितां लङ्कां पाण्डुरैर्भवनैः शुभाम् ।  
स ददर्श कपिः धीमान् पुरमाकाशगं यथा ॥ ५ ॥

जाम्बवन्कवृंरुमागरतरणोद्देश्यरुप्रोत्साहनानन्तरद्वालिकं वृत्तान्तमाह—<sup>ननु</sup> इत्यादिभिः । ततः स्वकीर्यस्मरणानन्तरं सीतायाः पदं स्थितिप्रदेशमन्वेष्टुं चारणैर्देव-  
जातिविशेषैः आचरिते अतिसंचारविशिष्टे पथि आकाशमार्गे प्राप्तमिति शेषः, इयेष  
नवाष्ट ॥ १ ॥

म इति—सूर्यादिभ्योऽञ्जलिं बध्ना स हनुमान् गमने मतिं बुद्धिं चकार ॥ २ ॥  
उत्पपातेति—अविचारयन् उत्पत्तनं किंचिदधिभ्रमजनरुमित्यगणयन् स  
हनुमान् वेगेन उत्पपात । अथ अतः आत्मानं सुपर्णं शोभितपक्षयन्तं पक्षिराज-  
मिमु मेने ॥ ३ ॥

तीर्थसागरस्य हनुमतो वृत्तान्तमेवाह—स इत्यादिभिः । क्षनाधृष्यं  
धर्षयितुमनाक्यं सागरं स हनुमान् अतिक्रम्य त्रिकूटस्य गिरिवर्षाभिषस्य शिखरे  
सुम्यः स्थितः सन् लङ्कां ददर्श ॥ ४ ॥

गिरीति—आकाशगतं आकाशादूर्ध्वं गो गमनं यस्य तत्पुरं यथा धीमान्  
हनुमान् लङ्कां ददर्श ॥ ५ ॥

पालितां राक्षसेन्द्रेण निर्मितां विश्वकर्मणा ।  
 प्लवमानामिधाकाशे ददर्श हनुमान् पुरीम् ॥ ६ ॥  
 सत्त्वमोस्थाय मेधावी हनुमान् मायतात्मजः ।  
 निद्रि लङ्कां महासत्त्वो विवेश कपिकुञ्जरः ॥ ७ ॥  
 शुभ्राय जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै ।  
 स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान् ददर्श सः ॥ ८ ॥  
 रक्षितं सुमहावीर्यैर्यातुधानैस्सहस्रशः ।  
 राक्षसाधिपतेर्गुप्तमाविवेश गृहं कपिः ॥ ९ ॥  
 प्रासादसंघातयुतं स्त्रीरत्नशतसंकुलम् ।  
 सुव्यूढकक्ष्यं हनुमान् प्रविवेश महाग्रहम् ॥ १० ॥  
 कामपश्यन् कपिस्तत्र पश्यन्श्चान्या धरत्रियः ।  
 १२६ दृष्टमन्तःपुरं सर्वे दृष्ट्वा रावणयोपितः ।  
 न सीता दृश्यते साध्वी वृथा जातो मम थमः ॥ १२ ॥  
 ७ किं नु मां वानराः सर्वे गतं वक्ष्यन्ति सङ्गताः ।

पालितामिति—आकाशे प्लवमानां गच्छन्तीमिव पुरीम् हनुमान् ददर्श ॥६॥  
 हनुमत्त्वर्तुक्कलद्वाप्रवेशनमेव वर्णयति सत्त्वमिति—सत्त्वं प्रवेशनयोग्य-  
 शनैर्गतिमास्थाय निश्चित्य महासत्त्वोऽतिबलवान् हनुमान् निद्रि लङ्कां प्रविवेश ॥७॥  
 शुभ्रावेति—तत्र तस्मिन् समये जपतां पठतां मन्त्रान् रक्षोगृहेषु शुभ्राय ।  
 स्वाध्यायनिरतान् वेदपाठरायणान् यातुधानान् रक्षोविशेषान् स हनुमान् ददर्श ॥८॥  
 रक्षितमिति—सहस्रशो यातुधानैः रक्षितं गुप्तं राक्षसाधिपतेर्गुह्यं  
 कपिर्हनुमान् ददर्श ॥९॥

प्रासादेति—प्रासादसंघातैर्युतं सुव्यूढः विशालाः कक्ष्या यस्मिन् तत्र  
 महाग्रहं हनुमान् प्रविवेश ॥१०॥

तामिति—सां सीतामपश्यन् कपि अन्यः स्त्रियः पश्यन् सन् अपक्रुम्य  
 उत्प्लुत्य प्रप्यातुं विचारयितुमुपचक्रे ॥११॥

दृष्टमिति—रावणयोपितो दृष्ट्वा सर्वमन्तःपुरं मया दृष्टम्, सीता नु न  
 दृश्यते अतः मम थमः समुद्रलंघनादिजनितक्षेदः कृपा ॥१२॥

- अदृष्ट्वा किं प्रवक्ष्यामि तामहं जनकात्मजाम् ॥१३॥  
 १० अनिवेदः धियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम् ।  
 अनिवेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः ।  
 इति संचिन्त्य भूयोऽपि विचेतुमुपचक्रमे ॥१४॥  
 ११ उत्पतन्निपतन्श्चापि तिष्ठन् गच्छन् पुनः पुनः ।  
 अपावृण्वंश्च द्वाराणि कवाटानवघाटयन् ॥  
 १० सर्वमप्यवकाशं स विचचार महाकपिः ॥१५॥  
 चतुरङ्गुलमात्रोऽपि नावकाशस्त विद्यते ।  
 रावणान्तःपुरे तस्मिन् यं कपिर्न जगाम सः ॥१६॥  
 १२ अदृष्ट्वा जानकीं सीतां अन्नवीदचनं कपिः ।  
 इह सम्पातिना सीता रावणस्य निवेशने ॥  
 आख्याता गृधराजेन न च पश्यामि तामहम् ॥१७॥  
 १३ स मुहूर्तमिध ध्यात्वा मनसा चाधिगम्य ताम् ।  
 अचप्सुतो महातेजाः प्राकारं तस्य घेदमनः ॥१८॥

किं न्विति—गुप्तं सीतासन्देशं विना प्राप्तं मां सर्वे जानराः किं नु वक्ष्यन्ति प्रक्ष्यन्त्येवेत्यर्थः । जनकात्मजाम् अदृष्ट्वा अहं किं प्रवक्ष्यामि नोत्तरमस्तीत्यर्थः ॥१३॥

अनिर्वेद इति—अनिर्वेदः कृत्यात् निवृत्तिर्यस्मात् स उत्साहः इत्यर्थः धियः सम्पत्तेः मूलं कारणम् अतएव अनिर्वेदः परं सुखं परमसुखहेतुः । सर्वार्थेषु निखिल-  
 कर्माण्येषु प्रवर्तकः अनिवेदः हि एव । इति संचिन्त्य विचेतुमुपचक्रमे ॥१४॥

उत्पतन्निपति—उत्पतनादि पुनः महाकपिः अवकाशम् अन्वेषितातिरिक्तदेशं सर्वमपि विचचार ॥१५॥

चतुरङ्गुलमात्र इति—शुभवकाशं स कपिर्न जगाम सोऽवकाशो देश-  
चतुरङ्गुलमात्रोऽपि न विद्यते ॥१६॥

अदृष्ट्वेति—सीताम् अदृष्ट्वा कपिः अन्नवीत् । इह अस्मिन् रावणस्य निवेशने  
सीता स्थितेति शेषः गृधराजेन आख्याता । परं तामहं न पश्यामि ॥१७॥

स इति—अज्ञोत्तमिद्वान्नेप्रणमुपक्रमते—स इन्द्रसाह मुहूर्तं आख्याता तन्निष्का-  
 गमनप्रकारं संचिन्त्य तां सीतां मनसा अधिगम्य प्राप्य तस्य रावणस्य वेशमन्तः वेशम-  
प्राकारात्प्राकारम् अशोकवनिकाया इति शेषः अचप्सुतः उत्प्लुत्य प्राप्तः ॥१८॥

अशोकवनिकायां तु तस्यां धानरपुङ्गवः ।  
 ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम् ॥१९॥  
 मन्दं प्रख्यायमानेन रूपेण रुचिरप्रभाम् ।  
 पिण्डां धूमजालेन शिखामिव विभायसोः ॥२०॥  
 पीतेनैकेन संवीतां क्लिष्टेनोत्तमवाससा ।  
 सपङ्कामनलङ्कारां विपद्भामिव पद्मिनीम् ॥२१॥  
 व्रीडितां दुःखसंतप्तां परिम्लानां तपस्विनीम् ।  
 ग्रहेणङ्कारकेणेव पीडितामिव रोहिणीम् ॥२२॥  
 अधुपूर्णमुखीं दीनां कृशामनशनेन च ।  
 शोकध्यानपरां दीनां नित्यं दुःखपरायणाम् ॥२३॥  
 तस्य सन्दिदिहे बुद्धिमुद्दुः सीतां निरीक्ष्य तु ।  
 आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव ॥२४॥  
 दुःखेन बुबुधे सीतां हनुमाननलंठताम् ।  
 संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम् ॥२५॥

अशोकैति—अशोकवनिकायां धानरपुङ्गवः शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिव अमलां  
 दंपममर्गरहिता सीतां ददर्श ॥१९॥

मन्दमिति—मन्दं प्रख्यां दैन्यबोधनमयुक्ते प्राप्नोति तेन रूपेण रुचिरा प्रभा  
 यस्या तां धूमजालेन पिण्डाम् आच्छादितां विभायगोरमे शिखामिव ॥२०॥

पीतेनेति—क्लिष्टेन जीर्णतया प्रतीतेन पीतेन एकेन उत्तमवाससा संवीताम्  
 अनलङ्काराम् अलङ्कृतिरहिताम् अत एव विपद्भां पद्मिनीं सरसीमिव सपङ्कां मदिनाम् ॥

व्रीडितामिति—दुःखसंतप्तां वियोगजनितदुःखाकान्ताम्, अत एव अङ्कारकेण  
 भीमेन ग्रहेण पीडितां रोहिणीमिव पीडिताम् ॥२२॥

अधुपूर्णैति—अधुपूर्णमुखीम् अत एव दीनां क्षीणा तत्त्वेन प्रतीयमानाम्  
 अनशनेन भोजनाभावेन कृशाम् शोकध्यानपरां शोकहेतुकचिन्ताक्रान्तां नित्यं दुःख-  
 परायणाम् सीता ददर्शैत्यनुकम्पते ॥२३॥

तस्येति—आम्नायानाम् अभ्यासानाम् अयोगेन प्रशिथिला विद्यामिव ता  
 सीता निरीक्ष्य तस्य हनुमतो बुद्धिः सन्दिदिहे ॥२४॥

दुःखेनेति—संस्कारेण ययोचितस्नानादिरूपसंस्कृत्या हीनाम् अत एव अर्था-  
 न्तरं गता वाचमिव अलङ्कृतां सीतां दुःखेन बुबुधे ॥२५॥

तां समीक्ष्य विशालार्क्षी राजपुत्रीमनिन्दिताम् ।  
 तर्कयामास सीतेति कारणैरुपपादिभिः ॥२६॥  
 वैदेह्या यानि चाङ्गेषु तदा रामोऽन्वकीर्तयत् ।  
 तान्याभरणजालानि शाखाशोभीन्यलक्षयत् ॥२७॥  
 तत्र यान्यवहीनानि तान्यहं नोपलक्षये ।  
 भूषणानि विचित्राणि दृष्टानि धरणीतले ।  
 अनयैवापविद्धानि खनवन्ति महान्ति च ॥२८॥  
 इदं चिरगृहीतत्वाद्बसन् क्लिष्टवत्तरम् ।  
 तथापि नूनं तद्वर्णं तथा श्रीमद्यथेतरत् ॥२९॥  
 इयं कनकवर्णाङ्गी रामस्य महिषी प्रिया ।  
 प्रनष्टाऽपि सती याऽस्य मनसो न प्रणश्यति ॥३०॥  
 अस्या देव्या मनस्तस्मिस्तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम् ।  
 तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्त्तमपि जीवति ॥३१॥

तामिति—तां सीतां समीक्ष्य कारणैरुपपादिभिः हेतुभिः इयं सीतेति तर्कया-  
 माम् अनुमानेन निश्चयं चकार ॥२६॥

वैदेह्या इति—तदा प्रस्थानसमये वैदेह्या अङ्गेषु यान्याभरणजालानि  
 रामोऽन्वकीर्तयत् तानि शाखाशोभीनि शाखाया शोभन्ते इति शाखाशोभीनि भर्तृ-  
 विरहकाले भूषणधारणस्यानुचितत्वात् स्वाङ्गेषु उन्मुच्य शाखायां न्यस्तानीत्यर्थः  
 अलक्षयत् अपश्यत् ॥२७॥

तत्रेति—तत्र रामाज्ञापिताभरणेषु यानि अवहीनानि ऋष्यमूक्यादौ पातितान्यहं  
 नोपलक्षये । अनयैव अपविद्धानि परिक्षितानि भूषणानि दृष्टानि ॥२८॥

इदमिति—यद्यपि चिरगृहीतत्वाद्देतोर्द्विदं वसनं क्लिष्टवत्तरम् अतिबाधिताम्  
 तथापि तद्वर्णं पीतवर्णविशिष्टं तथा श्रीमत् बहैश्वर्यलभ्यं यथा श्रीमत् इदं अन्तरीयं  
 तथा इतरत् तद्वक्ष्यसक्तोत्तरीयमपि ॥२९॥

इयमिति—प्रणष्टापि या अस्य रामस्य मनसः सती महिषी न प्रणश्यति तस्य  
 रामस्य सा प्रिया सीता इयमेव ॥३०॥

अस्या इति—अस्याः मनुः तस्मिन् रामे तस्य रामस्य च मनः अस्यां तेन  
 हेतुना इयं स च जीवति मुहूर्त्तमपि अन्यथा न जीवेदित्यर्थः ॥३१॥



दुष्करं कृतवान् रामो हीनो यदनया प्रभुः ।  
 धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसीदति ॥३२॥  
 एवं सीतां तदा दृष्ट्वा दृष्टः पवनसंभवः ।  
 जगाम मनसा रामं प्रशंसंश्च तं प्रभुम् ॥३३॥  
 स मुहूर्तमिव ध्यात्वा वाष्पपर्याकुलेक्षणः ।  
 सीतामाश्रित्य तेजस्वी हनुमान् विललाप ह ॥३४॥  
 मान्या गुरुविनीतस्य लक्ष्मणस्य गुरुप्रिया ।  
 यदि सीताऽपि दुःखार्ता कालोहि दुरतिक्रमः ॥३५॥  
 रामस्य व्यवसायज्ञा लक्ष्मणस्य च धीमतः ।  
 नात्यर्थं क्षुभ्यते देवी गङ्गेय जलदागमे ॥३६॥  
 तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम् ।  
 राघवोऽर्हति वैदेहीं तं च यमसितेक्षणा ॥३७॥  
 भस्या हेतोर्विशालाक्ष्या हतो याली महायलः ।  
 चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।

दुष्करमिति—अनया हीनः रामः आत्मनो देहं धारयति शोकेन च न  
 अवसीदति सर्वविस्मारकस्वेदं प्राप्नोति तत्र दुष्करं कृतवान् ॥३२॥

एवमिति—तदा तस्मिन् काले एव सीतां दृष्ट्वा दृष्टः पवनसंभवः रामं  
 मनसा जगाम प्रशंसंश्च ॥३३॥

स इति—स हनुमान् मुहूर्तं ध्यात्वा सीतां सीतादुःखमाश्रित्यावलोक्य  
 विललाप विविधस्त्वान् ॥३४॥

मान्येति—गुरुभिर्विनीतस्य शिक्षितस्य लक्ष्मणस्य गुरुप्रिया गुरोः रामस्य  
 प्रिया सीता यदि दुःखार्ता तर्हि कालः परमात्मसंकेतः दुरतिक्रमः आतिक्रमितुमशक्यः ॥

रामस्येति—देवी सीता यतो रामस्य लक्ष्मणस्य च व्यवसायज्ञा अनिवार्य-  
 पराक्रमविज्ञात्री अतोऽत्यर्थमत्यन्तं न क्षुभ्यते । तत्र दृष्टान्तः जलदागमे वर्षतीं गङ्गा  
 प्रयागस्थः शङ्खीव ॥३६॥

तुल्येति—तुल्यानि रामशीलादिसदृशानि शीलं बुद्धयश्च वृत्तमाचरणं च यस्याः  
 तुल्ये अभिजनः कुलं लक्षणं सामुद्रिकोक्तगुणश्च च यस्याः तां वैदेहीं राघव एवार्हति  
 एवमेव इयं वैदेही एव तुं राघवमर्हति ॥३७॥

भस्या इति—अस्या हेतोर्वीली इतः । रक्षसां चतुर्दश सहस्राणि निहतानि ॥३८॥

निहतानि जनस्थाने शरैरग्निशिखोपमैः ॥३८॥  
 सागरश्च मया क्रान्तः धीमान् नदनदीपतिः ।  
 अस्या हेतोर्विशालाक्ष्याः पुरी चैयं निरीक्षिता ॥३९॥  
 यदि रामः समुद्रान्तां मेदिनीं परिवर्तयेत् !  
 अस्याः कृते जगच्चापि युक्तमित्येव मे मतिः ॥४०॥  
 राज्यं वा त्रिषु लोकेषु सीता वा जनकात्मजा ।  
 त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीतायाः नाप्नुयात् कलाम् ॥४१॥  
 सर्वान् भोगान् परित्यज्य भर्तृस्नेहवलात्कृता ।  
 अचिन्तयित्वा दुःखानि प्रविष्टा निर्जनं वनम् ॥४२॥  
 इमां तु शीलसंपन्नां द्रष्टुमर्हति राघवः ।  
 अस्या नूनं पुनर्लाभाद्राघवः प्रीतिमेष्यति ॥४३॥  
 कामभोगैः परित्यक्ता हीना बन्धुजनेन च ।  
 धारयत्यात्मनो देहं तत्समागमलालसा ॥४४॥  
 नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्पफलद्रुमान् ।  
 एकस्यहृदया नूनं राममेवानुपश्यति ॥४५॥

सागर इति—निरीक्षिताऽवलोकिता ॥३८॥

यदिति—अस्याः कृते प्राप्तये समुद्रान्तां मेदिनीं जगत् त्रिलोकीं वा परिवर्तयेत् भ्रामयेत् तर्हि युक्तमेव इति मे मतिर्निश्चयः ॥४०॥

राज्यमिति—त्रिषु लोकेषु राज्यमधिकं सीता वाधिकेति विचार्यमाणे सुतीति शेषः, सकलं त्रैलोक्यराज्यं सीतायाः कलाम् षोडशशतमपि नाप्नुयात् ॥४१॥

सर्वानिति—भर्तृस्नेहवलात् सर्वान् भोगान् परित्यज्य दुःखानि अचिन्तयित्वा च कृता सहगमनविषयकप्रयत्नवती सीता कलाम् प्रविष्टा ॥४२॥

इमामिति—इमां सीतां राघवो द्रष्टुमर्हति । अस्याः सीताया लामात् राघवः प्रीतिमेष्यति प्राप्स्यति ॥४३॥

कामेति—कामभोगैः परित्यक्ता सीता तत्समागमलालसा रामसमागमविषय-  
 कोत्कटेच्छावती सती आत्मनो देहं धारयति ॥४४॥

न इति—एकस्यहृदया एषा सीता राममेवानुपश्यति, अतः राक्षस्यो राक्षसीः  
पुष्पफलद्रुमांश्च न पश्यति ॥४५॥

भर्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणादपि ।  
 एषा विरहिता तेन भूषणार्हा न शोभते ॥४६॥  
 इमामसितकेशान्तां शतप्रनिभेक्षणाम् ।  
 सुखाहो दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथितं मनः ॥४७॥  
 तथा विप्रेक्षमाणस्य वनं पुष्पितपादपम् ।  
 विचिन्वतश्च वैदेहीं किञ्चिच्छेषा निशाऽभवत् ॥४८॥  
 पडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम् ।  
 शुभ्राद्य ब्रह्मघोषांश्च विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम् ॥४९॥  
 अथ महलवादित्रै शब्दैः श्रोत्रमनोहरैः ।  
 प्राबुध्यत महाबाहुर्दशग्रीवो महाबलः ॥५०॥  
 विबुध्यतु यथाकालं राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।  
 अशोकवनिकामेव प्राविशत् सन्ततद्रुमाम् ।  
 वृतः परमनारीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः ॥५१॥  
 रावणोऽयं महाबाहुरिति संचिन्त्य वानरः ।  
 पद्मगुल्मान्तरे सक्तो हनुमान् संवृतोऽभवत् ।  
 सीतामसितकेशान्तामुपाचरत रावणः ॥५२॥

भर्तेति—भर्ता भूषणादप्यधिकं नार्या, भूषणं लीशोभाहेतुः अतः भूषणादपि  
 एषा सीता तेन रामेण विरहिता भर्ता न शोभते ॥४६॥

इमामिति—अयिता कृष्णा केशाः यस्याः तां प्रनिभाम् इमां दुःखिता  
 दृष्ट्वा ममापि मनो व्यथितम् ॥४७॥

तमेति—वैदेहीं विचिन्वतः अतएव तथा उक्तप्रकारेण वनं विप्रेक्षमाणस्य  
 हनुमतो निशा किञ्चिच्छेषा अवान् ॥४८॥

पडङ्गेति—पडङ्गवेदविदुषां वेदवेदितृणाम् अतएव क्रतुप्रवरयाजिनां ब्रह्मरक्षमां  
 ब्राह्मणराक्षसानां ब्रह्मघोषान् वेदनिन्दान् विरात्रे राक्ष्यवसाने शुभ्राद्य हनुमान् इति शेषः ।

अयेति—महलवादित्रैः माहात्मिकवाचवद्भिः राक्षसैः कर्तृभिः श्रोत्रमनोहरैः  
 शब्दैः करणभूतैश्च दशग्रीवः प्राबुध्यत ॥४९॥

विबुध्येति—राक्षसेन्द्रः विबुध्यतु सन्ततद्रुमां नित्यं द्रुमविराशाम् अशोकवनिका-  
 मेव ताराभिः चन्द्रमा इव नारीभिः वृतः सन् प्राविशत् ॥५१॥

रावणोऽयमिति—अयं रावण इति संचिन्त्य वानरः पद्मगुल्मान्तरे पद्म-  
 गुल्मान्तरे सक्तः सन् संवृतोऽभवत् शब्दोऽभवत् । असितकेशान्तां सीतां रावण-

स तां पतिव्रतां दीनां निरानन्दां तपस्विनीम् ।  
 साकारैर्मधुरैर्याप्यैर्यदर्शयत रावणः ॥५३॥  
 बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः ।  
 सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भय ॥५४॥  
 क्रुद्धि ममानुपश्य त्वं श्रियं भद्रे यशश्च मे ।  
 किं करिष्यसि रामेण सुभगे चीरवाससा ॥५५॥  
 निक्षिप्तविजयो रामो गतधीर्वनगोचरः ।  
 व्रती स्थण्डिलशायी च शङ्के जीवति वा न वा ॥५६॥  
 तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सीता रौद्रस्य रक्षसः ।  
 तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता ॥५७॥  
 निवर्तय मनो मत्तः स्वजने क्रियतां मनः ।  
 न मां प्रार्थयितुं युक्तः सुसिद्धिमिव पापकृत् ॥ ५८ ॥  
 अकार्यं न मया कार्यमेकपत्न्या विगर्हितम् ।  
 नाहमौपयिकी भार्या परभार्या सती तव ॥ ५९ ॥

उपावृत्ता तत्समीपं प्राप ॥५२॥

स इति—सु रावणः पतिव्रतां निरानन्दाम् अत एव दीनां गीतां साकारैरभि-  
 प्रायमहितैः वाक्यैः न्यदर्शयत अवधीत् ॥५३॥

बह्वीनामिति—इतस्तत आहृतानां मम सर्वासामेव बह्वीनामुत्तमस्त्रीणाम्  
 अप्रमादित्वा भव । ते तव भद्रं वन्याणम् ॥५४॥

क्रुद्धिमिति—त्वं मम क्रुद्धि श्रियं च पश्य चीरवाससा चीरान्छादितेन  
 रामेण रिम् ॥५५॥

निक्षिप्तेति—निक्षिप्तस्तव हरणैदिना विनष्टः विजयः विजयनाम युत्मादा-  
 दिर्यस्य अत एव यतधीः रामः जीवति न वा इत्यदं शङ्के विचारयामि ॥५६॥

तस्येति—रक्षस्य रावणस्य तद्वक्तं वचनं श्रुत्वा शुचिस्मिता सीता अन्तरतः  
 मध्ये तृणं कृत्वा प्रत्युवाच ॥५७॥

निवर्तयेति—मत्तः मनः निवर्तय स्वजनः स्वभार्यादिः तस्मिन् मनः क्रिय-  
 ताम् । पापकृत् सुसिद्धिमिव मां प्रार्थयितुं न युक्तम् ॥५८॥

अकार्यमिति—एकपत्न्या पतिव्रतया मया विगर्हितं पतिविरोधि कर्तृकत्वेन  
 निन्दितं कार्यं कुरितस्तस्त्रीभिः कर्तव्यं मया अकार्यं नु कारयितव्यम् । तव भार्याभिः

साधु धर्ममवेक्षस्व साधु साधुव्रतं चर ।  
 यथा तव तथान्येषां द्वारा रक्ष्या निशाचर ॥ ६० ॥  
 इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे ।  
 तथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता ॥ ६१ ॥  
 विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः ।  
 तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ॥ ६२ ॥  
 मां चास्मै प्रयतो भूत्वा निर्यातयितुमर्हसि ।  
 एवं हि ते भवेत् स्वस्ति संप्रदाय रघूत्तमे ॥  
 अन्यथा त्वं हि कुर्याणो वधं प्राप्स्यसि रावण ॥ ६३ ॥  
 सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं राक्षसाधिपः ।  
 प्रत्युवाच ततः सीतां विप्रियं प्रियदर्शनाम् ॥ ६४ ॥  
 वामः कामो मनुष्याणां यस्मिन् किल निवध्यते ।  
 जने तस्मिन्स्वनुक्रोशः स्नेहश्च किल जायते ॥ ६५ ॥

परभार्या अत्यन्तं सेविता सती अपिपिकी त्वद्रक्षणोपायमाधिका अहं न भाविष्या-  
 मीति शेषः ॥५६॥

साध्विति—अत एव साधु धर्मं साधु अवेक्षस्व चिन्तय, अत एव साधुव्रतं  
 संकल्पं चर कुट्ट । हे निशाचर, द्वारा यथा तव रक्ष्याः तथा अन्येषामपि रक्ष्याः ॥६०॥  
 इहेति—इह लङ्कारां सन्तो महात्मानो न सन्ति वा सतो विद्यमानान् वा  
 महात्मानस्त्वं नानुवर्तसे अत एव ते बुद्धिः तथा विपरीता विरुद्धकर्मविषयिणी आचार-  
 वर्जिता च अश्वीति शेषः । एतेन त्वया महात्मानोऽनुवर्तय्या इति सूचितम् ॥६१॥

विदित इति—शरणागतवत्सलो यो रामः तेन सह तव मैत्री भवतु ॥६२॥

मामिति—अस्मै रामाय मां निर्यातयितुमर्हसि दातुमर्हसि त्वम् । एवम्  
 अनेन प्रकारेण रघूत्तमे संप्रदायं दत्त्वा प्राप्य वा ते स्वस्ति भवेत्, अन्यथा  
 कुर्याणस्त्वं वधं प्राप्स्यसि ॥६३॥

सीताया, इति—सीतायाः परुषं वचनं श्रुत्वा राजसाधिपः प्रियदर्शना  
 सीता प्रत्युवाच ॥६४॥

वाम इति—यस्मिन् जने वाम् मुन्दर उत्कट इत्यर्थः, काम इच्छा निवध्यते  
 चिरं तिष्ठति तस्मिन् जने अनुक्रोशः दया स्नेहश्च जायते एतेनाक्रोशस्नेहयोः  
 क्रोधविध्वंसकत्वं सूचितम् ॥६५॥

एतस्मात्कारणात् त्वां घातयामि वरानने ।  
द्वौ मासौ रक्षितव्यौ मे योऽवधिस्ते मया कृतः ॥ ६६ ॥

ऊर्ध्वं द्वाभ्यां तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम्  
मम त्वां प्रातराशार्थमारभन्ते महानसे ॥ ६७ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं राजा रावणः शत्रुरावणः ।  
प्रस्थितः स दशग्रीवः कम्पयन्निघ मेदिनीम् ॥ ६८ ॥

२०१ हनुमानपि विश्रान्तः सर्वं शुश्राव तत्त्वतः ।  
२ ततो बहुविधां चिन्तां चिन्तयामास वानरः ॥ ६९ ॥

३ यां कपीनां सहस्राणि सुबहून्ययुतानि च ।  
दिशु सर्वासु मार्गन्ते सेयमासादिता मया ॥ ७० ॥

७ अहमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।  
समप्रह्लिष्टकर्माणं स्वबन्धुमनुकीर्तयन् ॥ ७१ ॥

एतस्मादिति—एतस्मादुक्तान् कारणान् त्वां न घातयामि । योऽवधिः मया कृतः 'मासान् द्वादश भामिनि' इत्यनेन अरण्यकाण्डे निधितः तन्मध्ये अवशिष्टाविति शेषः द्वौ मासौ रक्षितव्यौ ॥६६॥

ऊर्ध्वमिति—द्वाभ्यां मासाभ्याम् ऊर्ध्वं भर्तारं मां लङ्गाधियमनिच्छतीं त्वा मम प्रातराशाय प्रातःकालिकाशनार्थं महानसे पाकशालाया आरभन्ते आलभन्ते रत्नयोरभेदः 'आलम्भः स्पर्शर्हिसयोः,' इत्यमरः मम रावणस्य प्रातःकालिकभोजनाय त्वां मीता हनिष्यन्तीति भावः ॥६७॥

दतीति—म दशग्रीवः रावणः मैथिलीमित्युक्त्वा मेदिनीं पृथिवीं कम्पयन् इव प्रस्थितः ॥६८॥

हनुमानिति—विश्रान्तः अपनीतश्रमः हनुमान् सर्वं तत्त्वतः शुश्राव । ततोऽनन्तरं बहुविधाम् अनेकप्रकारां चिन्तां चिन्तयामास चकार ॥६९॥

यामिति—यां सीतां कपीनां बहूनि सदस्याणि अयुतानि च सर्वासु दिशुः मार्गन्ते सा इयं मया आसादिता प्राता ॥७०॥

अहमिति—अह्निकर्माणं श्रेयकारककारिणोऽहं स्वबन्धुं स्वस्याः मीतायाः बन्धुं प्रियं रामम् अनुकीर्तयन् अहम् एनां मीताम् आश्वासयामि आश्वासयिष्यामि ।

१०१ १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३० १३१ १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६० १६१ १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९० १९१ १९२ १९३ १९४ १९५ १९६ १९७ १९८ १९९ २०० २०१ २०२ २०३ २०४ २०५ २०६ २०७ २०८ २०९ २१० २११ २१२ २१३ २१४ २१५ २१६ २१७ २१८ २१९ २२० २२१ २२२ २२३ २२४ २२५ २२६ २२७ २२८ २२९ २३० २३१ २३२ २३३ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २४२ २४३ २४४ २४५ २४६ २४७ २४८ २४९ २५० २५१ २५२ २५३ २५४ २५५ २५६ २५७ २५८ २५९ २६० २६१ २६२ २६३ २६४ २६५ २६६ २६७ २६८ २६९ २७० २७१ २७२ २७३ २७४ २७५ २७६ २७७ २७८ २७९ २८० २८१ २८२ २८३ २८४ २८५ २८६ २८७ २८८ २८९ २९० २९१ २९२ २९३ २९४ २९५ २९६ २९७ २९८ २९९ ३०० ३०१ ३०२ ३०३ ३०४ ३०५ ३०६ ३०७ ३०८ ३०९ ३१० ३११ ३१२ ३१३ ३१४ ३१५ ३१६ ३१७ ३१८ ३१९ ३२० ३२१ ३२२ ३२३ ३२४ ३२५ ३२६ ३२७ ३२८ ३२९ ३३० ३३१ ३३२ ३३३ ३३४ ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५० ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६० ३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९ ३८० ३८१ ३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८७ ३८८ ३८९ ३९० ३९१ ३९२ ३९३ ३९४ ३९५ ३९६ ३९७ ३९८ ३९९ ४०० ४०१ ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४०६ ४०७ ४०८ ४०९ ४१० ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४२४ ४२५ ४२६ ४२७ ४२८ ४२९ ४३० ४३१ ४३२ ४३३ ४३४ ४३५ ४३६ ४३७ ४३८ ४३९ ४४० ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४५ ४४६ ४४७ ४४८ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५४ ४५५ ४५६ ४५७ ४५८ ४५९ ४६० ४६१ ४६२ ४६३ ४६४ ४६५ ४६६ ४६७ ४६८ ४६९ ४७० ४७१ ४७२ ४७३ ४७४ ४७५ ४७६ ४७७ ४७८ ४७९ ४८० ४८१ ४८२ ४८३ ४८४ ४८५ ४८६ ४८७ ४८८ ४८९ ४९० ४९१ ४९२ ४९३ ४९४ ४९५ ४९६ ४९७ ४९८ ४९९ ५०० ५०१ ५०२ ५०३ ५०४ ५०५ ५०६ ५०७ ५०८ ५०९ ५१० ५११ ५१२ ५१३ ५१४ ५१५ ५१६ ५१७ ५१८ ५१९ ५२० ५२१ ५२२ ५२३ ५२४ ५२५ ५२६ ५२७ ५२८ ५२९ ५३० ५३१ ५३२ ५३३ ५३४ ५३५ ५३६ ५३७ ५३८ ५३९ ५४० ५४१ ५४२ ५४३ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७ ५४८ ५४९ ५५० ५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६० ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ ५६५ ५६६ ५६७ ५६८ ५६९ ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७४ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५७९ ५८० ५८१ ५८२ ५८३ ५८४ ५८५ ५८६ ५८७ ५८८ ५८९ ५९० ५९१ ५९२ ५९३ ५९४ ५९५ ५९६ ५९७ ५९८ ५९९ ६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४ ६०५ ६०६ ६०७ ६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१४ ६१५ ६१६ ६१७ ६१८ ६१९ ६२० ६२१ ६२२ ६२३ ६२४ ६२५ ६२६ ६२७ ६२८ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३५ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४० ६४१ ६४२ ६४३ ६४४ ६४५ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५६ ६५७ ६५८ ६५९ ६६० ६६१ ६६२ ६६३ ६६४ ६६५ ६६६ ६६७ ६६८ ६६९ ६७० ६७१ ६७२ ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८२ ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१ ७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१ ७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३ ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८ ७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४ ७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६० ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७४ ७७५ ७७६ ७७७ ७७८ ७७९ ७८० ७८१ ७८२ ७८३ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३ ७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७ ८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६ ८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३ ८२४ ८२५ ८२६ ८२७ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४ ८३५ ८३६ ८३७ ८३८ ८३९ ८४० ८४१ ८४२ ८४३ ८४४ ८४५ ८४६ ८४७ ८४८ ८४९ ८५० ८५१ ८५२ ८५३ ८५४ ८५५ ८५६ ८५७ ८५८ ८५९ ८६० ८६१ ८६२ ८६३ ८६४ ८६५ ८६६ ८६७ ८६८ ८६९ ८७० ८७१ ८७२ ८७३ ८७४ ८७५ ८७६ ८७७ ८७८ ८७९ ८८० ८८१ ८८२ ८८३ ८८४ ८८५ ८८६ ८८७ ८८८ ८८९ ८९० ८९१ ८९२ ८९३ ८९४ ८९५ ८९६ ८९७ ८९८ ८९९ ९०० ९०१ ९०२ ९०३ ९०४ ९०५ ९०६ ९०७ ९०८ ९०९ ९१० ९११ ९१२ ९१३ ९१४ ९१५ ९१६ ९१७ ९१८ ९१९ ९२० ९२१ ९२२ ९२३ ९२४ ९२५ ९२६ ९२७ ९२८ ९२९ ९३० ९३१ ९३२ ९३३ ९३४ ९३५ ९३६ ९३७ ९३८ ९३९ ९४० ९४१ ९४२ ९४३ ९४४ ९४५ ९४६ ९४७ ९४८ ९४९ ९५० ९५१ ९५२ ९५३ ९५४ ९५५ ९५६ ९५७ ९५८ ९५९ ९६० ९६१ ९६२ ९६३ ९६४ ९६५ ९६६ ९६७ ९६८ ९६९ ९७० ९७१ ९७२ ९७३ ९७४ ९७५ ९७६ ९७७ ९७८ ९७९ ९८० ९८१ ९८२ ९८३ ९८४ ९८५ ९८६ ९८७ ९८८ ९८९ ९९० ९९१ ९९२ ९९३ ९९४ ९९५ ९९६ ९९७ ९९८ ९९९ १०००

सोऽवतीर्य द्रुमात्तस्याद्विद्रुमप्रतिमानतः ।  
 विनीतवेषः कृपणः प्रणिपत्योपसृत्य च ॥ ७२ ॥  
 तामग्रवीन्महातेजा हनुमान् मागतात्मजः ।  
 शिरस्यञ्जलिमाधाय सीतां मधुरया गिरा ॥ ७३ ॥  
 का त्वं भवसि कल्याणि त्वमनिन्दितलोचने ।  
 महिषी भूमिपालस्य राजकन्याऽसि मे मता ॥ ७४ ॥  
 रावणेन जनस्थानाद् यलादपहता यदि ।  
 सीता त्वमसि मद्रं ते तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ७५ ॥  
 यथा हि तव वा दैन्यं रूपं चाप्यतिमानुपम् ।  
 तपसा चान्वितो वेषस्त्वं राममहिषी ध्रुवम् ॥ ७६ ॥  
 सा तस्य वचनं श्रुत्वा रामकीर्तनहार्षिता ।  
 उवाच वाक्यं वैदेही हनूमन्तं द्रुमाश्रितम् ॥ ७७ ॥  
 स्नुषा दशरथस्याहं शत्रुसैन्यप्रमाथिनः ।  
 दुहिता जनकस्याहं वैदेहस्य महात्मनः ॥  
 सीता च नाम नाम्नाऽहं भार्या रामस्य धीमनः ॥ ७८ ॥

ग इति—विद्रुमप्रतिमं विद्रुममदृशमानतं यस्य स हनुमान् शिरसि अञ्जलिमा-  
 धाय ध्रुवा मधुरया गिरा अत्रवीर । श्लोकद्वयमेकान्वयि ॥७२-७३॥

का इति—हे अनिन्दितलोचने त्वं का भवसि ? भूमिपालस्य निखिलत्रका-  
 ण्डाधिपतेः रामस्य महिषी राजकन्या जनकराजपुत्री च मे मम मता निधिता अमि ।

रावणेनेति—जनस्थानाद् रावणेन यलाद् अपहता सीता यदि त्वमसि तदा  
 पृच्छतौ मे आचक्ष्व ॥७५॥

यथेति—यथा यथावत् तव दैन्यं वियोगदुःखरवितदीनता अतिमानुषं मानुषा-  
 नतिक्रान्तम् अत्यदुसुतमित्यर्थः तव रूपं च तपसा अन्वितमत्र वेषध अस्मीति वेष-  
 अतस्त्वं राममहिष्येव ॥७६॥

सा इति—सा सीता तस्य हनूमतो वचनं ध्रुवा रामकीर्तनहार्षिता मती द्रुमाश्रितं  
 हनूमन्तमुवाच ॥७७॥

स्नुषेति—शत्रुसैन्यप्रमाथिन दशरथस्याहं स्नुषा पुत्रवधू, महात्मनो जनक-  
 स्याहं दुहिता पुत्री, नाम्नाहं सीता नाम सीतेति प्रविद्धा, रामस्य भार्याहमस्मीति शेषः ।

वसतो दण्डकारण्ये तस्याहममितौजसः ।  
 रक्षसाऽपहृता भार्या रावणेन दुरात्मना ॥७६॥  
 द्वौ मासौ तेन मे कालो जीवितानुग्रहः कृतः ।  
 ऊर्ध्वं द्वाभ्यां तु मासाभ्यां ततस्त्यक्ष्यामि जीवितम् ॥८०॥  
 तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा हनूमान् हरियूथपः ।  
 दुःखाद् दुःखाभिभूतायाः सान्त्वमुत्तरमब्रवीत् ॥८१॥  
 अहं रामस्य सन्देशाद्देवि दूतस्तवागतः ।  
 वैदेहि कुशली रामस्त्वां च कौशलमब्रवीत् ॥८२॥  
 लक्ष्मणश्च महातेजा भर्तुस्तेऽनुचरः प्रियः ।  
 कृतवान्शोकसन्तप्तः शिरसा ते ऽभिवादनम् ॥८३॥  
 सा तयोः कुशलं देवी निशम्य नरसिंहयोः ।  
 प्रीतिसंहृष्टसर्वाङ्गी हनुमन्तमधाब्रवीत् ॥८४॥  
 ३४।६ कल्याणी वत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे ।  
 एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥८५॥

वसत इति—दण्डकारण्ये वसतः तस्य रामस्य भार्याहं रक्षमापहृता ॥७६॥

द्वविति—तेन रक्षणा द्वौ मासौ मे जीवितानुग्रहः जीवनावधिरित्यर्थः कृतः ।  
 किंच द्वौ मासौ जीवितानुग्रहः कृतः अतः ततः ताभ्यां मासाभ्यामूर्ध्वं जीवितं  
 त्यक्ष्यामि रामानागमने त्यक्तुमिच्छामि ॥८०॥

तस्या इति—दुःखाभिभूतायाः तस्याः सीताया वचनं भन्वा दुःखान् दुःखं  
 प्राप्य हनूमान् सान्त्वं सान्त्वनमुत्तरमब्रवीत् ॥८१॥

अहमिति—रामस्य दूतोऽहं सन्देशान् हेतोः नव समीपमुपागतः । ननु कः  
 सन्देश इत्यत आह—वैदेहीति । हे वैदेहि, कुशली रामः त्वां कौशलमब्रवीत् अकथयत्  
 किञ्च त्वां त्वत्कौशलमब्रवीत् अपृच्छत् ॥८२॥

लक्ष्मण इति—लक्ष्मणोऽभिवादनं ते कृतवान् ॥८३॥

मेति—सा सीता तयोः रामलक्ष्मणयोः कुशलं निशम्य प्रीतिसंहृष्टसर्वाङ्गी  
 प्रीतिपुलकितसर्वाङ्गी गर्ता हनुमन्तमब्रवीत् ॥८४॥

कल्याणीति—जीवन्तं नरं वर्षशतादपि आनन्दः एति प्राप्नोति इयं लौकिकी  
 गाथा कल्याणी मन्येत्यर्थः ॥८५॥



ध्यानाऽपि तस्य द्वैमात्रः सौमित्रिरपराजितः ।  
 श्रनुरामेण रूपेण गुणैश्चैव तथाविधः ॥१३॥  
 तावुमौ नरशार्दूलौ त्वद्दर्शनममुन्मुक्तौ ।  
 विचिन्वन्तौ महीं कृत्स्नामस्माभिरभिसङ्गतौ ॥१४॥  
 ततस्त्वन्नाशजं शोकं रामन्याह्निष्टकर्मणः ।  
 लक्ष्मणो वानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयत् ॥१५॥  
 ततस्त्वद्वात्रशोर्मानि रक्षसा द्वियमाणया ।  
 यान्याभरणजालानि पातितानि महींतले ॥  
 तानि रामाय दत्तानि मयैवोपहृतानि च ॥१६॥  
 तान्यङ्के दर्शनीयानि कृत्वा बहुविधैः तव ।  
 तेन देवप्रकाशेन देवेन परिदेवितम् ॥१७॥  
 म त्वां मनुजशार्दूलः क्षिप्रं प्राप्स्यति राघवः ।  
 समिप्रवान्धवं हत्वा राघवं जनकात्मजे ॥१८॥  
 महितौ रामसुग्रीवाद्युभावकुरुतां तदा ।  
 समयं वालिनं हन्तुं तव चान्वेषणं तथा ॥१९॥

भ्रान्तिः—तस्य रामस्य सौमित्रिर्भ्राता द्वैमात्रः रामनात्रपेक्षया द्वितीयमानु-  
 जनिता इत्यर्थः अनुगमादिभिस्त्वन्वाविधः गमनदशः ॥१३॥

ताविति—त्वद्दर्शनममुन्मुक्तौ गमलभणौ अन ' एव विचिन्वन्तौ मन्वी  
 अस्माभिरभिसङ्गतौ बभूवुर्गति शेषः ॥१४॥

तत इति—ततः सुग्रीववृत्तान्तध्रवणानन्तरं त्वन्नाशजं त्वद्दर्शनजनितं  
 रामस्य शोकं लक्ष्मणः सुग्रीवाय न्यवेदयत् ॥१५॥

तत इति—रक्षसा द्वियमाणया त्वया यान्याभरणजालानि पातितानि तानि  
 रामाय दत्तानि वानरैरिति शेषः, मयैवोपहृतानि प्रथममिति शेषः ॥१६॥

तानीति—तानि आभरणानि अङ्के कृत्वा तेन देवप्रकाशेन देवभावतारेण अन  
 एव देवेन रामेण बहुविधैः परिदेवितम् ॥१७॥

म इति—म राघवः राघवं हत्वा त्वां क्षिप्रं शीघ्रं प्राप्स्यति ॥१८॥

महिताविति—महितौ एकैर्भूतौ उभौ रामसुग्रीवौ वालिनं हन्तुं त्वान्वेषणं  
 कर्तुं च समयं प्रतिजाम् अकुरुताम् ॥१९॥

ततो निहत्य <sup>दूरे</sup> तरसा रामो वालिनमाहवे ।  
 सर्वक्षहरिसङ्घानां सुग्रीवमकरोत् पतिम् ॥१००॥  
 रामसुग्रीवयोरैष्यं देव्येवं समजायत ।  
 हनुमन्तं च मां विद्धि तयोर्दूतमिहागतम् ॥१०१॥  
 स्वराज्यं प्राप्य सुग्रीवः समानीय महाकपीन् ।  
 त्वदर्थं प्रेषयामास दिशो दश महाबलान् ॥१०२॥  
 आदिष्टा वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण वनौकसः ।  
 चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वयमन्ये च वानराः ॥१०३॥  
 विश्वासार्थं तु वैदेहि भर्तुरुक्ता मया गुणाः ।  
 अचिराद्राघवो देवि स्वामितो नयिताऽनघे ॥१०४॥  
 एतत्ते सर्वमाख्यातं समाश्वसिहि मैथिलि ।  
 रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यंगुलीयकम् ॥१०५॥  
 प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना ।  
 समाश्वसिहि भद्रं ते क्षीणदुःखफला ह्यसि ॥१०६॥

तत इति—रामः बालिनं निहत्य सुग्रीवं निखिलजनिनीनां प्रतिमकरोत् ॥१००॥

रामेति—एवमुक्तप्रकारेण रामसुग्रीवयोः ऐक्यं सम्यं समजायत । मां तु तयोर्दूतं हनुमन्तं विद्धि जानीहि ॥१०१॥

स्वराज्यमिति—सुग्रीवः स्वराज्यं प्राप्य अत एव महाकपीन् समानीय त्वदर्थं प्रेषयामास ॥१०२॥

आदिष्टा इति—वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण आदिष्टा वनौकसः कृत्स्नां वमथां चरन्ति । वयं चरामः अन्ये वानराश्च चरन्तीति शेषः ॥१०३॥

विद्वत्सार्थमिति—हे वैदेहि, मया तव विद्वत्सार्थं भर्तुरुक्ता उक्ताः । हे अनघे निष्पापे, अचिरान् शीघ्रं राघवस्वामितो नयिता नेता ॥१०४॥

एतदिति—हे मैथिलि, एतत् भवत्या पृष्ठं सर्वमाख्यातम् अनः समाश्वसिहि धीरा भव । देवि इदं रामनामाङ्कितम् अंगुलीयकं च पश्य ॥१०५॥

प्रत्ययार्थमिति—तत्र प्रत्ययार्थं विद्वत्सार्थं तेन महात्मना रामेण दत्तम् अंगुलीयकमिति शेषः जानीते भवतीति शेषः । अत एव क्षीण. दुःखफलः दुःखफलकः समयो यस्याः सा त्वमसि अत एव समाश्वसिहि ॥१०६॥

गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषणम् ।  
 भर्तारमिव संप्राप्ता जानकी मुदिताऽभवत् ॥१०७॥  
 ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुसन्देशहर्षिता ।  
 परितुष्टा प्रियं कृत्वा प्रशशंस महाकपिम् ॥१०८॥  
 विक्रान्तस्त्वं समर्थस्त्वं प्राज्ञस्त्वं धानरोत्तम ।  
 येनेदं राक्षसपदं त्वयैकेन प्रघर्षितम् ॥१०९॥  
 दिष्ट्या स कुशली रामो धर्मात्मा सत्यसङ्गरः ।  
 लक्ष्मणश्च महातेजाः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥११०॥  
 कुशली यदि काकुत्स्थः किं न सागरमेखलाम् ।  
 महीं दहति कोपेन युगान्ताग्निरिवोत्थितः ॥१११॥  
 अथवा शक्तिमन्तौ नौ सुराणामपि निग्रहे ।  
 ममैव तु न दुःखानामस्ति मन्ये विपर्ययः ॥११२॥  
 कश्चिन्न व्यथितो रामः कश्चिन्न परितप्यते ।  
 उत्तराणि च कार्याणि कुरुते पुरुषोत्तमः ॥११३॥

गृहीन्वेति—भर्तुः करविभूषणं गृहीत्वा भर्तारं संप्राप्तं जानकी मुदिता  
 अभवत् ॥१०७॥

तत इति—ततोऽनन्तरं भर्तुः सन्देशेन हर्षिता सा नीता महाकपिं इन्मन्त्रं  
 प्रियं प्रीतिविपर्ययभूतं कृत्वा प्रशशंस ॥१०८॥

विक्रान्त इति—येन हेतुना एकेन त्वया राक्षसपदं प्रघर्षितं तेन हेतुना  
 विक्रान्तन्वादिविशिष्टस्त्वं मयाऽबोधति शेषः ॥१०९॥

दिष्ट्येति—कुशली कुशलविशिष्टः ॥११०॥

कुशलीति—यदि काकुत्स्थः कुशली तर्हि कोपेन जातपृथिव्यपराधजनित-  
 कोपेन महीं किं न तु दहति दहन्येवेत्यर्थः । एतेन एवं शक्तिसत्त्वे रावणं कुतो न  
 निहन्तीति सूचितम् । किं च कोपेन, रावणापराधजनितकोपेन महीं लह्याभूमिं किं  
 नु दहति ॥१११॥

अथवेति—अथवेति पक्षान्तरे सुराणामपि निग्रहे शक्तिमन्तौ नौ राम-  
 लक्ष्मणौ स एव तथापि मम दुःखानां विपर्ययो विनाशकालो नैवास्तीत्यहं मन्ये ।

कश्चिदिति—रामः कश्चिन्न व्यथितः कश्चिन्न परितप्यते वा अत एव कार्याणि  
 कर्तव्यानि उत्तरान् दुःखानां प्रयत्नान् कुरुते ॥११३॥

कश्चिन्न विगतज्जेटो विचासान्मयि राघवः ।  
 कश्चिन्मां व्यसनादस्माद् मोक्षयिष्यति वानर ॥११५॥  
 सीताया वचनं श्रुत्वा मारुतिर्भीमविक्रमः ।  
 शिरस्यञ्जलिमाधाय धाप्यमुत्तरमग्रवीत् ॥११५॥  
 न त्वामिहस्यां जानीते रामः कमललोचने ।  
 तेन त्वां नानयत्याशु शचीमिव पुरन्दरः ॥११६॥  
 ३७.२० श्रुत्वैव तु घञो मृष्टं क्षिप्रमेप्यति राघवः ।  
 चमूं मृकर्षन् महतीं हर्यृक्षणसंकुलाम् ॥११७॥  
 विष्टम्भयित्वा घाणौघैरक्षोभ्यं वरुणालयम् ।  
 करिष्यति पुरीं लङ्कां काकुत्स्थः शान्तराक्षसाम् ॥११८॥  
 तयादर्शनजेनार्ये शोकेन स परिप्लुतः ।  
 न शर्म लभते रामः सिंहादित इव द्विपः ॥११९॥  
 अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः ।  
 सीतेति मधुरां घाणीं व्याहरन् प्रतिबुध्यते ॥१२०॥

कश्चिदिति—विद्यायात् हेतोः राघवः मयि विगतज्जेटो न कश्चिद् अस्माद्  
 व्यसनात् दुःखहेतुभूतनिरोधान् मोक्षयिष्यति मोक्षयिष्यति ॥११५॥

सीताया इति—मारुतिः सीताया वचनं श्रुत्वा अञ्जलिं शिरसि अध्याय उत्तरं  
 श्रेष्ठं वाक्यमग्रवीत् ॥११५॥

नेति—इहम्या त्वां रामो न जानीते तेन हेतुना शचीं पुरन्दर इव त्वामाशु  
 जानयति ॥११६॥

श्रुत्वेति—मम वचनं श्रुत्वा एव राघवः एष्यति ॥११७॥

विष्टम्भयित्वा इति—वरुणालयं समुद्रं विष्टम्भयित्वा विष्टम्भ्य संभ्रम्य मनुं  
 वरुणैर्वर्यैः लङ्कां घाणौघैः शान्तराक्षसामं करिष्यति ॥११८॥

तंति—शोकेन परिप्लुतः परिपूरितः स रामः शर्म न लभते ॥११९॥

अनिद्र इति—अनिद्रः प्रायेण निद्रारहितः रामः सुप्तः कथंचित् किञ्चित्स्वप्नं  
 प्राप्नोऽपि सीतेति मधुरां घाणीं व्याहरन् मन् प्रतिबुध्यते ॥१२०॥

अभिज्ञानं प्रयच्छ त्वं जानीयाद्राघवो हि यत् ।  
 ग्रही यद्राघवो वाच्यो लक्ष्मणश्च महायलः ॥१२१॥  
 इत्युक्त्वति तस्मिन् सीता सुरसुतोपमा ।  
 उवाच शोकसन्तप्ता हनुमन्तं प्लवङ्गमम् ॥१२२॥  
 कौसल्या लोकभर्तारं सुपुत्रे यं मन्तस्विनी ।  
 नं ममार्थे सुखं पृच्छ शिरसा चाभिवाद्य ॥१२३॥  
 वृद्धोपसेवी लक्ष्मीवान् शको न बहुभाषिता ।  
 राजपुत्रप्रियः श्रेष्ठः सदृशः श्वशुरस्य मे ॥१२४॥  
 मत्तः प्रियतरो नित्यं भ्राता रामस्य लक्ष्मणः ।  
 यं दृष्ट्वा राघवो नैव वृत्तमायमुनुसरेत् ॥१२५॥  
 स ममार्थाय कुशलं वक्तव्यो वचनान्मम ।  
 मृदुरित्यं शुचिर्दक्षः प्रियो रामस्य लक्ष्मणः ॥१२६॥  
 यथा हि वानरश्रेष्ठ दुःखक्षयकरो भवेत् ।  
 त्वद्रस्मिन् कार्यनिरोगे प्रमाणं हरिसत्तम ॥१२७॥  
 राघवस्त्वत्समारम्भान्मयि यत्नपरो भवेत् ।  
 इदं ब्रूयाच्च मे नाथं शूरं रामं पुनः पुनः ॥१२८॥

अभिज्ञानमिति—यत् यतः राघवो जानीयात् मत्कर्तृकत्वदर्शनं बुध्येत तदभि-  
 ज्ञानं चिह्नं त्वं प्रयच्छ । राघवः यद्वाच्यः तद् इति वद ॥१२१॥

इतीति—तस्मिन् हनुमति द्रुति उक्त्वति सति सीता हनुमन्तसुवाच ॥१२२॥

कौसल्येति—कौसल्या यं सुपुत्रे तं ममार्थे उयुक्तमिति शेषः रामं सुखं पृच्छ  
 अभिवाद्य च ॥१२३॥

वृद्धेति—शकः समर्थाऽपि न बहुभाषिता नितभाषीत्यर्थः

रामस्य प्रियः । मे मम श्वशुरस्य सदृशश्च ॥१२४॥ श्वशुरः लक्ष्मणः अस्तीति

मत्त इति—मत्तः ममापीत्यर्थः, प्रियतरोऽर्थाद् नैव अनुसरेत् । स लक्ष्मण

शेषः । यं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः वृत्तं निर्दिष्टं

ममार्थाय कुशलं वक्तव्यः ॥१२५॥ दुःखनाशनः भवेत् लक्ष्मणः इति शेषः, हे हरिः

मृदुरिति—मृदुःस्वभावात् त्वं प्रमाणम् ॥१२६-१२७॥

ममाम, अस्मिन् कार्यनिरोगे निर्वाहे त्वं प्रमाणम् ॥१२६-१२७॥  
 राघव इति—वत्समारम्भान् त्वदुत्साहनात् राघवः मयि यत्नपरो भवेत् अतः

जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ।  
 ऊर्ध्वं मासाद्य जीघेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते ॥१२९॥  
 ततो बल्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूडामणिं शुभम् ।  
 प्रदेयो राघवार्येति सीता हनुमने ददौ ॥१३०॥  
 मणिरत्नं कपिवरः प्रतिगृह्याभियाद्य च ।  
 हृदयेन गतो रामं शरीरेण तु विष्टितः ॥१३१॥  
 तस्माद्देशादपक्रम्य चिन्तयामास यानरः ।  
 अल्पशेषमिदं कार्यं दृष्टेयमसितेक्षणा ।  
 श्रीनुपायानतिप्रम्य चतुर्थं इह दृश्यते ॥१३२॥  
 कार्यं कर्मणि निर्दिष्टे यो बहून्यपि साधयेत् ।  
 पूर्वकार्याधिरोधेन स कार्यं कर्तुमर्हति ॥१३३॥

मे मम नाथं रामं पुनः पुनः इदं वक्ष्यमाणं ब्रूयात् ब्रूहि ॥१२८॥

जीवितमिति—हे दशरथात्मज, मामम् भवधिभूतमासपर्यन्तं जीवितं धारयिष्यामि । मासान् ऊर्ध्वं न जीवेयम् इति मत्वेन मत्वं ते अहं ब्रवीमि ॥१२९॥

तत इति—ततोऽनन्तरं बल्रगतं दिव्यं चूडामणिं शरीरत्नं मुक्त्वा रन्मुन्य राघवाय प्रदेयं हनुक्त्वा इति शेषः, हनुमने ददौ ॥१३०॥

मणिरत्नमिति—कपिवरो हनुमान् मणिरत्नं मणिधेनुं प्रतिगृह्य स्वीकृत्य अभियाद्य च सीतारमिति शेषः, हृदयेन मनसा रामं गतः शरीरेण तु विष्टितः तत्र स्थितः आसीदिति शेषः ॥१३१॥

तस्माद्देशेति—यानरः हनुमान् तस्माद्देशाद् अपक्रम्य निर्गम्य चिन्तयामास । इयं सीता इष्टा प्रयानध्वर्यं सिद्धमित्यर्थः । इदं परबलदर्शनस्य कार्यमल्पशेषं स्वयं गन् शिष्यते, इह परबलदर्शनस्यकार्यं तु यतः श्रीन् सामासीन् उपायान् अतिब्रूम्य चतुर्थं दण्ड एव उपायः दृश्यते ॥१३२॥

कार्यं इति—कार्यं स्वाम्य, अतस्तत्त्वे अस्मि निर्दिष्टे निश्चिते सति यो बहूनि निर्दिष्टकार्यस्योपकरणानि विपुलकार्याणि साधयेत् साधकप्रसिद्धेन स पूर्वकार्या-विशेषेन नियतकार्यप्राप्तिकृत्वरहितेन कार्यं कर्तुमर्हति ॥१३३॥

न होकः साधको हेतुः स्वल्पस्यापीह कर्मणः ।  
 यो ह्यर्थं बहुधा वेद स समर्थोऽर्थसाधने ॥१३४॥  
 इदमस्य नृशंसस्य नन्दनोपममुत्तमम् ।  
 वनं विध्वंसयिष्यामि शुष्कं वनमिवानलः ।  
 अस्मिन् भग्ने ततः कोपं करिष्यति दशाननः ॥१३५॥  
 ततस्तु हनुमान् वीरो यमञ्ज प्रमदावनम् ।  
 चकार सुमहद्रूपं राक्षसीनां भयावहम् ॥१३६॥  
 ततस्तं गिरिसंकाशं राक्षसो विकृताननाः ।  
 विरूपं वानरं भीममाख्यातुमुपचक्रमुः ॥१३७॥  
 अशोकवनिकामध्ये राजन् भीमवपुः कपिः ।  
 सीतया कृतसंवादास्तिष्ठत्यमितविक्रमः ॥१३८॥  
 तेन त्वद्भुतरूपेण यत्तत्तव मनोहरम् ।  
 नानामृगगणाकीर्णं प्रमृष्टं प्रमदावनम् ॥१३९॥

नेति—स्वल्पस्यापि कर्मणः रामकार्यस्य सीताप्राप्तेरित्यर्थः, साधको हेतुरेकः  
 एव दुःखदः मन्तीत्यर्थः, सीतादर्शनमात्रेण रामकार्यसिद्धिर्न भवतीति तात्पर्यम्,  
 अतः अर्थं गमकार्यमाधकदेतुं बहुधा बहुप्रकारेण यो वेद स एव अर्थसाधने गमर्थः ।

इदमिति—अस्य नृशंसस्य क्रूरस्य रावणस्य इदं वनं नन्दनोपमम् उत्तमं  
 चास्तीति शेषः । इदम् उक्तं वनं शुष्कं वनम् अनल इव अग्निरिव विध्वंसयिष्यामि ।  
 अस्मिन् भग्ने मति दशाननः रावणः कोपं करिष्यति ॥१३५॥

तत इति—ततोऽनन्तरं प्रमदाकुलवनिकां बंधन । राक्षसीनां भयावहं भयं-  
 करं रूपं चकार हनुमानिति शेषः ॥१३६॥

ततस्तमिति—ततोऽनन्तरं गिरिसंकाशं पर्वतमदृशं विरूपं वानरं विकृताननाः  
 भयेन हेतुनेत्यर्थः, राक्षस्यः आख्यातं वर्णयितुमुपचक्रमुः ॥१३७॥

अशोकेति—सीतया कृतः संवादो तेन सोऽमितविक्रमः कपिः तिष्ठति ।

तेनेति—यत् तव प्रमदावनं ता तेन वानरेण प्रमृष्टं विध्वंसितम् ॥१३९॥

न तत्र कश्चिदुद्देशो यस्तेन न विनाशितः ।  
 यत्र सा जानकी सीता न स तेन विनाशितः ।  
 जानकीरक्षणार्थं वा ध्रमाद्धा नोपलक्ष्यते ॥१४०॥  
 राक्षसीनां वचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।  
 धान्ननः सदृशान् शूरान् किंकरान् नाम राज्ञसात् ॥  
 व्यादिदेश महतेजा निग्रहार्थं हनुमतः ॥१४१॥  
 ते गदाभिर्विचित्राभिः परिधैः काञ्चनाद्भुजैः ।  
 धाज्जघ्नुर्धनिरश्रेष्ठं शरैश्चादित्यसंनिभैः ॥१४२॥  
 ततः स किङ्करान् हत्वा हनुमान् दशायन् बलम् ।  
 चैत्यप्रासादादनुत्प्लुत्य मेरुपृष्ठमिवोन्नतम् ।  
 घृष्टमास्फोटयामास लङ्कां शब्देन पूर्यन् ॥१४३॥  
 बलविजयतां रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।  
 राजा जयति सुर्ध्रवो राघवेणाभिवाहितः ॥१४४॥  
 दासोऽहं फोसलेन्द्रस्य रामस्याह्निष्टकर्मणः ।  
 हनुमान् शशुसैन्यानां निहन्ता माहतात्मजः ॥  
 न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतियत्नं मवेत् ॥१४५॥

नेति—तेन वानरेण यः कश्चिदुद्देशः स्यात् न विनाशितः स तत्र वानिकायां  
 ज्ञान्ति, यत्र देशे सा जानकी स देशस्तु तेन न विनाशितः । सीताधिहृन्देशः तेन  
 जानकीरक्षणार्थं सीतारक्षणार्थं न विनाशितः अथवा ध्रमात् न विनाशित इति  
 मोनलक्षणे न निर्धार्यते ॥१४०॥

राक्षसीनामिति—राक्षसीनां वचः श्रुत्वा हनुमतो निग्रहार्थं किङ्करान् नाम  
 किङ्करान्मृगान् एतान् राज्ञः व्यादिदेश आह्वानवानास ॥१४१॥

त इति—ते किङ्कराः । गदाभिः काञ्चनाद्भुजैः परिधैश्च शरैश्च  
 धाज्जघ्नुः ॥१४२॥

तत इति—तु हनुमान् कष्टं दुर्गन्धं चैवरागादम् उज्ज्वलं भुष्टं निर्मग्नम्  
 आरसेटयानाम् विदारवानास ॥१४३॥

अश्वविदिति—अश्वविद् राम- जयताम्, महाबलः लक्ष्मणश्च जयताम् ।  
 राघवेणाभिवाहितः सुर्ध्रवो जयति ॥१४४॥

दास इति—अहं रामस्य दासः शत्रुसैन्यानां निहन्ता च आम्नि, गवज-  
 महसमपि मे मम युद्धे प्रतियत्नं न मवेत् ॥१४५॥



अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम् ।  
 ममृद्धार्यो गमिष्यामि मिपतां सर्वरक्षसाम् ॥१४६॥  
 पयमुक्त्वा महाबाहुश्चैत्यस्थो हरियूथपः ।  
 ननाद भीमनिर्हादो रक्षसां जनयन् भयम् ॥१४७॥  
 ततस्तैः स्वगणैरिष्टैरिन्द्रजित् प्रतिपूजितः ।  
 स रथी धन्विनां श्रेष्ठः शस्त्रज्ञोऽस्त्रविदां वरः ॥  
 हनूमन्मभिप्रेत्य जगाम रणपण्डितः ॥१४८॥  
 तावुमौ वेगमस्पृशौ रणकर्मविशारदौ ।  
 सर्वभृतमनोग्राहि चक्रतुर्युद्धमुत्तमम् ॥१४९॥  
 ततः पैतामहं वीरः सोऽस्त्रमस्त्रविदां वरः ।  
 सन्दधे सुमहातेजास्तं हरिप्रवरं प्रति ॥१५०॥  
 तेन बद्धस्तनोऽस्त्रेण राक्षसेन स वानरः ।  
 अभवन्निर्विचेषश्च पपात च महीतले ॥१५१॥  
 तं मत्तमिव मानहं बद्धं कपियरोत्तमम् ।  
 राक्षसा राक्षसेन्द्राय रावणाय न्यवेदयन् ॥१५२॥

अर्दयित्वेति—लङ्काम् अर्दयित्वा धर्षयित्वा ममृद्धार्यः ममृदमनोरथः  
 गमिष्यामि ॥१४६॥

पयमिति—एवं एवोक्तम् उक्त्वा चैत्यः हनुमान् रक्षसा भयं जनयन्  
 गन ननाद ॥१४७॥

तत इति—स्वगणैः प्रतिपूजितः ममाहनः स रथी रणपण्डितः इन्द्रजित्  
 मंपनादः हनूमन्मभिप्रेत्य जगाम ॥१४८॥

ताविति—तौ हनूमदिन्द्रजितौ सर्वभृतमनोग्राहि निगिलप्राणिद्वयाकर्षकं  
 युद्धं चक्रतुः ॥१४९॥

तत इति—सुमहातेजाः इन्द्रजित् हरिप्रवरं प्रति पैतामहस्यैवं सन्दधे ब्रह्मास्त्र-  
 मन्धानमकरोत् ॥१५०॥

तेनेति—राक्षसेन अस्त्रेण करणेन बद्धो वानरः निर्विचेषोऽभवत्, अत एव  
 महीतले पपात च ॥१५१॥

तमिति—गन्तव्यः बद्धं कपियरं रावणाय न्यवेदयन् ॥१५२॥

स तैः संपीड्यमानोऽपि रक्षोभिर्भोमविश्रमः ।  
 विस्मयं परमं गत्वा रक्षोधिपमवैक्षत ॥१५३॥  
 भ्राजमानं ततो दृष्ट्वा हनुमान् राक्षसेश्वरम् ।  
 मनसा चिन्तयामास तेजसा तस्य मोहितः ॥१५४॥  
 अहो रूपमहो धैर्यमहो सत्त्वमहो वृत्तिः ।  
 अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्ता ॥१५५॥  
 यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः ।  
 स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता ॥१५६॥  
 तं समीक्ष्य महासत्त्वं सत्त्ववान् हरिसत्तमः ।  
 वाक्यमर्थवदव्यग्रस्तमुवाच दशाननम् ॥१५७॥  
 अहं तु हनुमान् नाम मारुतस्यौरसः सुतः ।  
 सीतायास्तु कृते नृणो शतयोजनमापतम् ।  
 समुद्रं लहयित्वैव तां दिदृक्षुरिहागतः ॥१५८॥  
 भ्रमता च मया दृष्टा गृहे ते जनकात्मजा ।  
 तद्भवान् दृष्टधर्मार्थस्तपःकृतपरिमहः ।  
 परदारान् महाप्राप्तो नोपरोद्धुं त्वमर्हसि ॥१५९॥

स इति—तैः रक्षोभिः संपीड्यमानोऽपि स हनुमान् विस्मयं गत्वा  
 रक्षोधिपमवैक्षत् ॥१५३॥

भ्राजमानमिति—भ्राजमानं राक्षसेश्वरं दृष्ट्वा तस्य राक्षसेश्वरस्य तेजस  
 मोहितः कर्तव्यविषयकविवेकरहितो हनुमान् चिन्तयामास ॥१५४॥

अहो इति—राक्षसराजस्य रूपदिसर्वलक्षणयुक्ता च अहो आश्चर्यम् ॥१५५॥

यदीति—अयं राक्षसेश्वरः यदि अधर्म-धर्मविरोधी न भ्यात् तर्हि सुरलोक

म्यापि रक्षिता स्यात् ॥१५६॥

तमिति—महासत्त्वं तं रावणं समीक्ष्य अर्थवान् मन्त्रयोजनं वाक्यं हरिसत्तमे  
 हनुमानुवाच ॥१५७॥

अहमिति—मारुतस्य औरसः सुख्यः सुतः हनुमान्नामाहं तु सीतायाः कृतं  
 सीतार्थं शतयोजनमापतं समुद्रं लंघयित्वा तां सीतां दिदृक्षुः अहं इह लह्यामागतः

भ्रमतेति—मया भ्रमता ते गृहे जनकात्मजा दृष्टा । इष्टौ साक्षात्कृतौ धर्मार्थं  
 येन सः तपसा कृतः परिग्रहः धर्मादिर्महो येन सः अत एव भवान् पूज्यस्त  
 परदारान् उपरोद्धुं नार्हसि ॥१५९॥

न हि धर्मविद्वेषु बह्मपायेषु कमसु ।  
 मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥१६०॥  
 तत् त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यपर्यानुबन्धि च ।  
 मन्यस्व नरदेवाय जानकीं प्रतिदीयताम् ॥१६१॥  
 तस्य तद्वचनं श्रुत्वा वानरस्य महात्मनः ।  
 आज्ञापयद् वधं तस्य रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥१६२॥  
 वधे तस्य समाज्जते रावणेन दुरात्मना ।  
 निवेदितवतो दौत्यं नानुमेने विभीषणः ॥१६३॥  
 तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दशग्रीवो महात्मनः ।  
 देशकालहितं वाक्यं धातुदत्तरमब्रवीत् ॥१६४॥  
 कर्पानां किल लाङ्गलमिष्टं भवति भूपणम् ।  
 तदस्य दीप्यतां शीघ्रं तेन दग्धेन गच्छतु ॥१६५॥  
 तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसाः कोपकर्कशाः ।  
 वेष्टयन्ति स्म लाङ्गलं जीर्णं कार्पासजैः पटैः ।  
 तैलेन परिपिच्यथ तंऽग्निं तत्राभ्यपातयन् ॥१६६॥

नहीति—धर्मविद्वेषु धर्मशास्त्रविद्वेषु अत एव बह्मपायेषु विपुलापिय-  
 मंपादकेषु अत एव मूलघातिषु कर्मसु भवद्विधा बुद्धिमन्तो न सज्जन्ते ॥१६०॥

तदिति—तत् उक्तहेतोः त्रिकालहितं सर्वकाले हितकारकं घट्यं धर्मादनपेतम्  
अर्षानुबन्धि अर्षानुयायि वाक्यं मन्यस्य अत एव नरदेवाय रामास जानकीं  
प्रतिदीयताम् ॥१६१॥

तस्येति—तस्य हनुमतः वचनं श्रुत्वा क्रोधमूर्च्छितो रावणः तस्य हनुमतो  
हथमाज्ञापयद् ॥१६२॥

वध इति—रावणेन वधे समाज्जते मति दौत्यं स्वनिष्ठदूतधर्मं निवेदितवतो  
हनुमतः वधे, विभीषणो नानुमेने न अनुमतिं चकार । वध इत्युभयान्वयि ॥१६३॥

तस्येति—महात्मनो विभीषणस्य वचनं श्रुत्वा देशकालहितमंतरं  
वाक्यमब्रवीत् ॥१६४॥

कर्पानामिति—लाङ्गलं कर्पानां भूषणम् अत एव दुष्टं भवति । अतः अस्य  
तत् लाङ्गलं दीप्यता दग्धेन लाङ्गलेन विष्टः मत् गच्छतु ॥१६५॥

तस्येति—तस्य रावणस्य वचनं श्रुत्वा कोपकर्कशाः अनिर्दीपवन्तो राक्षसाः

लाङ्गुलं संप्रदीप्तं तद् द्रष्टुं तस्य हनुमतः ।  
 सहस्रीबालवृद्धाश्च जग्मुः प्रीतिं निशाचराः ॥१६७॥  
 वीक्षमाणस्ततो लङ्कां कपिः कृतमनोरथः ।  
 वर्धमानसमुत्साहः कार्यशेषमचिन्तयत् ॥१६८॥  
<sup>उत्तर</sup> वृत्तं तावत् प्रमथितं प्रकृष्टा राक्षसा हताः ।  
 बलैकदेशः क्षपितः शेषं दुर्गविनाशनम् ॥१६९॥  
 दुर्गं विनाशिते कर्म भवेत् सुखपरिधमम् ।  
 अल्पयत्नेन कार्येऽस्मिन् मम स्यात् सफलः ध्रमः ॥१७०॥  
 यो ह्ययं मम लाङ्गुले दीप्यते हव्यवाहनः ।  
 अस्य सन्तर्पणं न्याय्यं कर्तुं मे भिर्गृहोत्तमैः ॥१७१॥  
 ततः प्रदीप्तलाङ्गुलः सविशुद्धिं तोयदः ।  
 भवनाग्रेषु लङ्काया विचचार महाकपिः ॥१७२॥

तस्य हनुमतो लाङ्गुलं कार्पासव्रीः कार्पासोपादानकै पटैः वेष्टयन्ति स्म । अथ  
 अनन्तरं तैलेन परिषिष्य्य अभिषिच्य तत्र लाङ्गुले अग्निम् अभ्यपातयन् ददुरित्यर्थः ।

लाङ्गुलमिति—तस्य हनुमतः संप्रदीप्तं लाङ्गुलं द्रष्टुं सहस्रीबालवृद्धाः निशा-  
 चराः जग्मुः ते च दृष्ट्वा प्रीतिं जग्मुरित्युभयान्वयि ॥१६७॥

वीक्षमाण इति—वर्धमानः समुत्साहो यस्य स हनुमान् कार्यशेषम् अव-  
 शिष्टकृत्यम् अचिन्तयत् ॥१६८॥

वनमिति—प्रकृष्टाः बलवन्तः राजसा. हताः बलैकदेशः सेनायाः कश्चिदेशः  
 क्षपितः विनाशितश्च अतः दुर्गविनाशनमेव शेषं पर्यासीति शेषः ॥१६९॥

दुर्ग इति—दुर्गं विनाशिते मति कर्म मम क्रिया सुखं मूलरूपः परिधमो  
 यस्मिन् तत् भवेत् अतः अल्पयत्नेन माय्ये अस्मिन् दुर्गविनाशनकर्मे कार्ये निष्पन्ने  
 सतीति शेष, मम ध्रमः सफलः स्यात् ॥१७०॥

य इति—इमं लाङ्गुले दीप्यते प्रकाराने यो हव्यवाहनो बलिः अस्य सन्तर्पण-  
 मे भिर्गृहोत्तमैः कर्तुं न्याय्यम् ॥१७१॥

तत इति—सविशुद्धिं तोयदो मेव इव लङ्काया भवनाग्रेषु विचचार  
 महाकपिः हनुमान् ॥१७२॥

गृहाद् गृहं राक्षसानामुधानानि च यानरः ।  
 वीक्षमाणो ह्यसन्वस्तः प्रासादांश्च चचार सः ॥१७३॥  
 लङ्कां समस्तां सन्दीप्य लाङ्गलामिं महाबलः ।  
 निर्वापयामास तदा समुद्रे हरिसत्तमः ॥१७४॥  
 ततस्तां शिशुपामूले जानकीं पर्यवस्थिताम् ।  
 गमनाय मतिं कृत्वा वैदेहीमभ्यवादयत् ॥१७५॥  
 स लिलङ्घयिषुर्भीमं सलीलं लवणार्णवम् ।  
 कल्लोलास्फालवेदान्तमुत्पपात नभो हरिः ।  
 निपपात महेन्द्रस्य शिखरे पादपाकुले ॥१७६॥  
 ततस्ते प्रीतमनसः सर्वे वानरपुङ्गवाः ।  
 हनुमन्तं महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे ॥१७७॥  
 प्रहृष्टवदनाः सर्वे तमरोगमुपागतम् ।  
 उपायनानि चादाय मूलानि च फलानि च ।  
 प्रत्यर्चयन् हरिध्रेष्ठं हरयो मारुतात्मजम् ॥१७८॥

गृहादिति—राक्षसानां गृहान् उन्नतभवनान् गृहम् उद्यानानि गृहारानांश्च  
 वीक्षमाणो हनुमान् प्रासादान् चचार ॥१७३॥

सङ्ग्रामिति—ननुमनां लङ्कां सन्दीप्य हरिसत्तमः वानरधेष्ठः हनुमान्  
 लाङ्गलामिं समुद्रे निर्वापयामास ॥१७४॥

तत इति—ततोऽनन्तरं गमनाय मतिं विचारं कृत्वा शिशुपामूले पर्यवस्थिता  
 जानकीं अभ्यवादयन् ननुमनाय हनुमानिति शेषः ॥१७५॥

स इति—कल्लोलास्फालवेदान्तं तरङ्गैः स्फालितनारोपान्तं भीमं लवणार्णवं  
 सलीलं लीलापूर्वकं लिलङ्घयिषुः हरिः स हनुमान् नभ उर्ध्वगतः । महेन्द्रस्य तदाख्यस्य  
 पर्वतस्य पादपाकुले तरमकुले शिखरे निपपात च ॥१७६॥

तत इति—सर्वे वानरपुङ्गवाः हनुमन्तं परिवार्य उपतस्थिरे । अरोगं पुनाक-  
 पूर्वकं तम् उपगतं हरिध्रेष्ठं कृतसीत्युपायनान्यादाय हरयो वानराः प्रतिपूजितवन्तः ।  
 मार्गधेष्ठमनेवान्वयि ॥१७७-१७८॥

हनूमांस्तु गुरुन् वृद्धान् जाम्बवत्प्रमुखांस्तदा ।  
 कुमारमङ्गदं चैव सोऽवन्दत महाकपिः ॥१७०॥  
 हनूमानब्रवीद् दृष्टस्तदा तान् वानरर्षभान् ।  
 भशोकवनिकासंस्था दृष्टा सा जनकात्मजा ।  
 रक्ष्यमाणा सुधोराभी राक्षसीभिरनिन्दिता ॥१८०॥  
 सा प्रकृत्यैव तन्यद्वा तद्वियोगाद्य कर्षिता ।  
 प्रतिपन्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता ॥१८१॥  
 प्रीतिमन्तस्ततः सर्वे वायुपुत्रपुरस्तराः ।  
 महेन्द्राद्रिं परित्यज्य पुष्टुवुः गृधगर्यभाः ॥१८२॥  
 गृधमानाः खमुत्पन्य ततस्ते काननौकसः ।  
 निपेतुर्हरिराजस्य समीपं राघवस्य च ॥१८३॥  
 हनूमांश्च महायाहुः प्रणम्य शिरसा ततः ।  
 नियतामक्षतां देवीं राघवाय न्वदेयन् ॥१८४॥  
 तत्र लङ्केति नगरी रावणस्य दुरात्मनः ।  
 दक्षिणस्य समुद्रस्य तीरे वसति दक्षिणे ॥१८५॥

हनूमानिति—हनूमान् जाम्बवत्प्रमुखान् अवन्दत ॥१७६॥

हनूमानब्रवीदिति—दृष्टः प्रसन्नः हनूमान् सुधोराभिः राक्षसीभिः रक्ष्यमाणा अनिन्दिता निन्दासंसर्गरहिता अशोकवनिकासंस्था जनकात्मजा मया दृष्टेति वानरर्षभान् अत्र ब्रवीन् ॥१८०॥

मेति—प्रकृत्यैव स्वभावेनैव तन्यद्वा मीता तद्वियोगान् रामवियोगजदुमान् कर्षिता अतिदुःखं प्राप्ता अत एव प्रतिपन्पाठशीलस्य जनस्य विद्येव तनुता गता ।

प्रीतिमन्त इति—ननुऽनन्तरं वायुपुत्रपुरसराः प्रीतिमन्तः सर्वे वानरा महेन्द्राद्रिं महेन्द्रपर्वतं परित्यज्य त्यक्त्वा पुष्टुवुः जगुः ॥१८२॥

गृधमाना इति—गृधमानाः पुष्टुवुः, गच्छन्तः ते काननौकसः वानराः हरिराजस्य समीपस्य राघवस्य च समीपे निपेतुः ॥१८३॥

हनूमानिति—हनूमान् प्रणम्य नियतां वनचित्तान् अज्ञानं विनाशरहितां देवीं मीतां राघवाय न्वदेयन् ॥१८४॥

तत्रेति—तत्र प्रसिद्धे दक्षिणस्य समुद्रस्य तीरे रावणस्य लङ्केति नगरी वसति अस्ति ॥१८५॥

तत्र सीता मया दृष्टा रावणान्तःपुरे सती ।  
 संन्यस्य त्वयि जीवन्ती रामा रामे मनोरथम् ॥१८६॥  
 सा मया नरशार्दूल विश्वासमुपपादिता ।  
 रामसुग्रीवसख्यं च श्रुत्वा प्रीतिमुपागता ॥१८७॥  
 अभिज्ञानं च मे दत्तं यथावृत्तं तवान्तिके ।  
 चित्रकूटे महाप्राज्ञ वायसं प्रति राघव ॥१८८॥  
 अयं चास्मै प्रदातव्यो यज्ञात् सुपरिरक्षितः ।  
 एष नियतितः श्रीमान् मया ते वारिसंभवः ॥१८९॥  
 जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ।  
 ऊर्ध्वं मासाच्च जीवेयं रक्षसां वशमागता ॥  
 इति मामवर्षात् सीता कृशाङ्गी वरवर्णिनी ॥१९०॥

तत्र सीतेति—तत्र लङ्कार्या रावणान्तःपुरे, त्वयि रामे मनोरथं संन्यस्य जीवन्ती मती रामा सीता मया दृष्टा ॥१८६॥

सेति—हे नरशार्दूल राम मां मारिता सीता मया विश्वासमुपपादिता विदवासं प्राप्तिना च तथा रामसुग्रीवसख्यं रामस्य सुग्रीवस्य च मैत्रीं श्रुत्वा प्रीतिं प्रसक्तताम् उपगता प्राप्ता ॥१८७॥

अभिज्ञानमिति—चित्रकूटे वायसं जयन्तं श्रुत्वा तवान्तिके यद् वृत्तं वृत्तान्तः तदभिज्ञानं मद् संवादचिह्नं मे मह्यं दत्तं कथितमित्यर्थः ॥ “पुरा किल निद्विश्रिते देशे मन्दाकिनीनसीपे बायसः मां विल्लिखत् । भवान् मां विल्लिखितां दृष्ट्वा क्रुद्धः कोपेन च दर्भमस्मरान् दर्भमुष्टेरेकं दर्भं ब्रह्माश्रदेवतानन्त्रेणयोज्य तं वायसं प्रतिचिक्षेप । तेन च न वायसः भूमौ निपातितः ‘दत्त्वा च दाक्षिणं नेत्रं प्राणेभ्यः परिरक्षितः’ । अन्येनां कथामुद्दिश्य सीतया रामः उपालब्धः यद् ‘मत्कृते काव्मायेऽपि ब्रह्माश्रं मसुर्दारितम् वस्त्राद्योभाहरन् त्वत्तः क्षमसे तं मर्हसिपते’ इत्युदन्तजातं अत्रानुसन्धेयम् ।

अयमिति—अयं सुपरिरक्षित वारिसंभवः मया सीतया ते तुभ्यं नियतितः दत्तः श्रीमान् मणिः अन्त्यं रामाय प्रदातव्यः ॥१८९॥

जीवितमिति—मासादूर्ध्वं न जीवेयं सीता मामित्यवर्षात् ॥१९०॥

एवमुक्तो हनुमता रामो दशरथात्मजः ।  
 तं तु दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं राघवः शोककर्षितः ॥  
 नेत्राभ्यामध्रुपूर्णाभ्यां सुप्रीवमिदमब्रवीत् ॥१६१॥  
 अयं हि शोभते तस्याः प्रियाया मूर्ध्नि मे मणिः ।  
 अस्याद्य दर्शनेनाहं प्राप्तां तामिव चिन्तये ॥१६२॥  
 चिरं जीवति वैदेही यदि मासं धरिष्यति ।  
 न जीयेयं क्षणमपि विना तामस्तितेक्षणाम् ॥१६३॥  
 नय मामपि तं देशं यत्र दृष्टा मम प्रिया ।  
 न तिष्ठेयं क्षणमपि प्रवृत्तिमुपलभ्य च ॥१६४॥  
 मधुरा मधुरालापा किमाह मम भामिनी ।  
 मद्विहीना वरारोहा हनुमन् कथयस्व मे ॥१६५॥  
 एवमुक्तस्तु हनुमान् राघवेण महात्मना ।  
 सीताया भाषितं सर्वं न्यवेदयत् राघवे ॥१६६॥  
 हनुमन् सिंहसंकाशो तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।  
 सुप्रीवं च सहामात्यं सर्वान् व्रया ह्यनामयम् ॥१६७॥

एवमिति—हनुमता एवं पूर्वोक्तप्रक्षारेण उक्तः, मणिं दृष्ट्वा शोककर्षितः  
 रामः सुप्रीवम् इदं वक्ष्यमाणम् अब्रवीत् ॥१६१॥

अयमिति—अयं मणिः तस्याः सीताया मूर्ध्नि शोभते । अतः अस्य मणेरंश-  
 नेन तां सीतां प्राप्तामिव चिन्तये मन्ये ॥१६२॥

चिरमिति—यदि मासं धरिष्यति प्राणान् इति शेषः तदा वैदेहीं चिरं  
 जीवति । अहं तु तां सीतां विना क्षणमपि न जीयेयं जीवितुमिच्छामि ॥१६३॥

नयेति—प्रवृत्तिं वृत्तान्तमुपलभ्य ज्ञान्वा क्षणमपि न तिष्ठेयम् अतः यत्र  
 मम प्रिया दृष्टा तं देशं मामपि नय ॥१६४॥

मधुरेति—मम भामिनी प्रिया किमाह कथं च जीवति तत् कथयस्व ॥१६५॥

एवमिति—राघवेण एवमुक्तो हनुमान् सीतायाः सर्वं भाषितं राघवे  
 तन्ममीपे न्यवेदयत् ॥१६६॥

हनुमभिति—सिंहसंकाशो तदशो रामलक्ष्मणौ सुप्रीवं सर्वान् अन्यान्ध  
 अनामयं व्रया वदेः ॥१६७॥



यथा च स महाबाहुर्मा तारयति राघवः ।  
 अस्माद् दुःखाम्बुसंरोधात् त्वं समाधातुमर्हसि ॥१९८॥  
 तदर्धोपहितं वाक्यं प्रथितं हेतुसंहितम् ।  
 निशम्याहं ततः शेषं वाक्यमुत्तरमब्रुवम् ॥१९९॥  
 मम पृष्ठगतौ तौ च चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।  
 त्वत्सकाशं महाभागे नृसिंहावागमिष्यतः ॥२००॥  
 अरिष्टं सिंहसंकाशं क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ।  
 लक्ष्मणं च धनुष्पाणिं लङ्काद्वारमुपस्थितम् ॥२०१॥  
 निवृत्तवनवासं च त्वया सार्धमरिन्दमम् ।  
 अभिषिक्तमयोध्यायां क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ॥२०२॥

गयेति—दुःखाम्बुसंरोधात् दुःखागरान् यथा स राघव मा तारयति त मा  
 वुं ममाधातुमर्हसि ॥१९८॥

तदर्धेति—अहम् अर्धोपहितं तद्वाक्यं निशम्य ध्रुवा शेषं धिरम् उत्तरं  
 वक्ष्यम् अब्रुवम् ॥१९९॥

ममेति—मम पृष्ठगतौ पृष्ठारूढौ तौ रामलक्ष्मणौ उदितौ चन्द्रसूर्यां च  
 वृत्कालम् आगमिष्यतः ॥२००॥

अरिप्तमिति—सिंहसंकाशं रामं धनुष्पाणिं लक्ष्मणं च क्षिप्रं शीघ्रं द्रक्ष्यसि ।

निवृत्तेति—त्वया सार्धमभिषिक्तं राघवनयोध्यायां क्षिप्रं द्रक्ष्यसि ॥२०२॥

इति श्रीवाल्मीकिरामायणे सुन्दरकाण्डे रामायणशिरोमणि-

टीकामेनेन समाप्तम् ॥

# श्रीमद्भगवद्गीतोपदेशः

## अर्जुन-विपादः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सज्जय ॥ १-१ ॥

धर्मप्रधानत्वाद्धर्मप्रदत्वाद्वा धर्मक्षेत्रात्त्रायत इति वा धर्मक्षेत्रं तस्मिन्धर्मक्षेत्रे  
याममात्रेण धर्मतत्फलप्रदे कुरुक्षेत्रे युयुत्सवो युद्धं चिकीर्षवोऽतएव समवेताः समवायं  
प्राप्ताः सन्नद्धाः मामकाः दुर्योधनादयः पाण्डवाश्च किं कार्यं कृतवन्तः मज्जय,  
तद् ब्रूहीत्यर्थः ।

मज्जय उवाच—

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।

प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥१-२०॥

दृष्ट्वा केशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अधोमयमेनयोः युद्धसन्नाहसमनन्तरं पाण्डोरपत्यं पाण्डवः कपिध्वजोऽर्जुनः  
व्यवस्थितान् धार्तराष्ट्रान् दृष्ट्वा स्वयमपि धनुरुद्यम्य शस्त्राणां सम्पाते प्रयोगकाले  
प्राप्ते तदा दृष्ट्वा केशमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाह हे महीपते ।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥१-२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुक्कामानवस्थितान् ।

कर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥१-२२॥

योद्धुक्कामान् युयुत्सून् अत एवावस्थितान्सेनां सज्जय युद्धायोद्युक्तानेतान् योधान्  
मर्दान् यावत् यावति देशे स्थित्वाहं निरीक्षे सम्यक् पश्यामि हे अच्युत । तावन्तं  
देशे मे रथं नीत्वा सेनयोर्द्वयोर्मध्ये स्थापय । किमिह सेनां द्रष्टुमागतोऽसि वा  
त्वमिन्पत आह—इति । अस्मिन् रणसमुद्यमे युद्धव्यापारे कैः सह मया योद्धव्यं  
युद्धं वर्तव्यं भवति ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥१-२३॥

दुर्बुद्धेर्धर्मनिष्ठस्य धार्तराष्ट्रस्य धृतराष्ट्रापत्यस्य दुर्योधनस्य युद्धे प्रियचिकीर्षवः युद्धेनेष्टमर्थं सम्पादयितुकामा संतोऽत्र कुरुक्षेत्रे ये वा एते समागताम्नान् योत्स्यमानान् सर्वातद्दमनेक्षे नाम ह्यं कुर्वे च मंत्रन्थं यथा ज्ञास्ये तथा रथं स्थापयेत्पर्यः ।

गणय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥१-२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।

उवाच पार्थ पश्यतान् समवेतान् कुरूनिति ॥१-२५॥

गुडाकेश — गुडबन्धुर् सन् भक्तानवति प्राप्नोतीति गुडाकः शिवः । 'मत्-  
दुष्किलायं मधुमानुनायम्' इति ध्रुतः । स शिव ईशो यस्य स गुडाकेशोऽर्जुनस्येन  
हृषीकेशः हृषीकाणामिन्द्रियाणामाशो हृषीकेश धीकृष्णः एवमुक्तः सन् रथोत्तमं  
रथिकगारिथिभ्यामर्थाविशेषैर्ध्वजप्रभावेण चोत्कृष्टत्वेन तद्भ्रम्योत्तमन्वम् । तं रथोत्तमं  
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा, भीष्मद्रोणप्रमुखतः षष्ठी बहुवचनान्तन्मपि भीष्मद्रोणौ  
प्रमुखमादियेषां ते भीष्मद्रोणप्रमुखाः महीक्षितेन छत्रिन्यायेनात्र भीष्मस्यैव महीक्षित्वं  
तेषां भीष्मद्रोणप्रमुखानां महीक्षिता भुभुजां सर्वेषां शृण्वतामिति शेषः । हे पार्थ,  
समवेतान्ममवार्थं प्राप्तानेतान्कुरुन्परिनेयुवाच ।

तत्रापश्यत् स्थितान्पार्थः पितृन्थ पितामहान् ।

आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥१-२६॥

श्वशुरान् सुहृदश्चैव मेनयोरुभयोरपि ।

अथ भगवदुक्तेरनन्तरं पार्थ — वृथाकुन्ती तदपर्यं पार्थोऽर्जुनो यत्र रथः  
स्थापितस्तत्र स्थित्वा मेनयोरुभयोरपि स्थितान् पितृन् पितृव्यान्, मखीन् मवयस्का  
मग्रायस्तान्, श्वशुरान् सुहृदो मित्राणि चैवं सर्वाणां स्त्रीयानेवापश्यत् । न तु  
तन्मतिरिक्तानिव्यर्थः ।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥१-२७॥

कृपया परयाविष्टो विरीदक्षिदमग्रवीन् ।

न दर्शनकर्मणि प्रवृत्तः कौन्तेयः कुन्त्या अपत्यं कौन्तेयोऽर्जुनः बन्धून्  
बन्धुत्वधर्माविशिष्टानिव तानवस्थितान् युद्धसन्नद्धान् सर्वान् ममीक्ष्य प्रीवामुन्नम्य  
सम्पद्यद्वा तेषु परया कृपयाविष्टो भूत्वा विपीडयित्वा वक्ष्यमाणलक्षणं वचनमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥१-२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥१-२९॥

युयुत्सुं मेना मन्त्रय युयुत्सया समुपस्थितमिमं पुरःस्थं स्वजनं पितृपुत्रादिकं  
दृष्ट्वा मदीया इति ज्ञात्वा, हे कृष्ण, इमं हन्तुं मम गात्राणि करचरणादयः सीदन्ति  
शिशिलायन्ते, मुखं च परिशुष्यति शुष्कीभवति, शरीरे वेपथु कम्पो रोमहर्षां  
भयमन्तापाभ्या रोमोद्गमश्च जायते ॥

गाण्डीवं संसते हस्तात् न्वक्चैव परिदहाते ।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥१-३०॥

हस्ताद् गाण्डीवं धनुः संसते गलति त्वक् चर्म च परितोषेन दहते, मे  
मनोऽपि च भ्रमति परवशं गच्छति । अत एव रथे स्थातुं च न शक्नोमि ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥१-३१॥

हे केशव, युद्धसृष्टेरनर्थन्वमूचकानि विपरीतान्येव निमित्तानि च पश्यामि न  
त्वनुकूलानि । इदानीमेवमस्तु तथापि पश्चात्तु श्रेयो भविष्यतीत्यत आह—नर्चेति ।  
इमं पितृपितामहादिकं स्वजनमाहवे युद्धे हत्वा अनु-पश्चाद् युद्धानन्तरभावि न किमपि  
श्रेयश्च पश्यामि । एतेषां वधेन न किमपि पुरपार्थमेष्यन्तं विजान इत्यर्थः ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जायितेन वा ॥१-३२॥

अहर्षेर्नृणाम् वरेण जयादिदक्षणं श्रेय इत्यत आह—न काङ्क्षे इति । स्वजन-  
हिंसया प्राप्तो यो जयन्तमहं न काङ्क्षे, तेन प्राप्तं राज्यं च तन्मूलकानि विषय-  
मुखान्यापि नाहं काङ्क्षे इत्यर्थः । एतैर्यथा राज्याद्यपेक्षया बुध्यते तथा भवद्भिरपि  
युयतामिष्यत आह—किमिति । धर्माधर्मविवेकवता नोऽस्माकं स्वजन-हिंसया प्राप्तेन  
राज्येन किं फलं तन्मूलकभोगैर्वा किं तदर्थकेन जायितेन वा किम् । अधर्ममूलकं  
श्रेयसवदमेतत्सर्वं सनां नाशाभ्यमिष्यर्थः ।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगा सुखानि च ।

त इमेऽद्यस्थित्वा युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥१-३३॥

अकार्यशतेनापि पोषणीयानां येषां पितृपुत्रादीनामर्थं निमित्ते राज्यं भोगा सुखानि च काङ्क्षितं नोऽस्माभिः काङ्क्षितानि भवन्ति । न इति तृतीयार्थे षष्ठी । न एव पित्रादय इमे प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा युद्धे युद्धनिमित्तमवस्थिताः । जीविताशां त्यक्त्वा युद्धे मर्तुमागत्य तिष्ठन्तीत्यर्थः ।

एताश्च हन्तुमिच्छामि प्रतोऽपि मधुसूदन ।

अपि प्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥१-३५॥

स्वर्गमां प्रतोऽपि हिंमतोऽप्येतावाचावादीन् हन्तुं नेच्छामि प्रैलोक्यराज्यस्य हेतोरपि निमित्ताय वा । एतेषां हननेन्द्रत्वं वाप्यागच्छतु तथाप्येतान् हन्तुं नेच्छामि किं नु महीकृते किं वक्तव्यं राज्यार्थमेतान् हन्तुं नेच्छामीति । अनेन स्वर्गपुरमपि मास्त्वित्युक्तं भवति ।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।

विशृज्य सशरं चापं शोकसंविप्रमानसः ॥१-४७॥

अर्जुनः संख्ये सति एवम् उक्तप्रकारं वचनमुक्त्वा शोकसंविप्रमानसः स्वजन-विनाशं निमित्तीकृत्य सधुष्पत्रेण शोकेन संविप्रं मानसं यस्य न तयोक्तः मन् सशरं चापं विशृज्य नाहं योद्धुं शक्यामीति रथोपस्थे रथस्थोपरि उपाविशद् उपविष्टवानित्यर्थः ।

### श्रीकृष्णोपदेशः

सञ्जय उवाच—

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमधुपूर्णाकुण्डेक्षणम् ।

विषीदन्तमिदं चाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ २-१ ॥

तथा—उकरीत्या मदीया एते भ्रातृपुत्रादयो युधि त्रियन्त इति मरिष्यमाणस-जनेषु कृपयाविष्टमत्र एव विषीदन्तमत्र एवाधुपूर्णाकुण्डेक्षणं तमर्जुनं दृष्ट्वा मधुसूदनः मत्वा सर्वेषां देहे मधुवदिष्टत्वान्मधुरहङ्कारस्तमात्मप्रकारानेन सूदयतीति मधुसूदनः । यदा 'दयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु' इति श्रवणान्मधु स्वरूपानन्दमन् स्वपरोक्षवत् सूदयति स्फोरयतीति मधुसूदनं श्रीकृष्ण-इदं वक्ष्यमाणलक्षणं वाक्यमुवाच ।

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमर्कातिकरमर्जुन ॥ २-२ ॥

हे अर्जुन शुद्धस्वभाव विषमे सङ्घटे शत्रुभिः शत्रैर्हेनुं प्रवृत्तसमये इदं कश्मलं 'एताञ्च हन्तुमिच्छामि' इत्याद्युक्तलक्षणशक्तिव्यामोहः कृतः कस्माद्धेतोस्त्वा त्वां समुपस्थितम् प्राप्तम् । कालदीपात्कर्मदोषाद्वा कस्मादयं भ्रमः शुद्धस्वभावस्य विवेकिनस्तव प्राप्त इत्यर्थः । हे पार्थ अनार्यजुष्टमनार्यैरार्यशिक्षावर्जितैः पामरैर्जुष्टं सेवितमस्वर्ग्यं स्वर्गाप्रापकं दुर्गतिकारणमिह लोकेऽप्यर्कातिकरम् ।

क्लेश्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्स्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ २-३ ॥

क्लेश्यं क्लेशभावं कातर्यं शरणाग्रमानर्हं त्वं मा स्म गमः मा भजस्व । राजधर्मज्ञे रणपण्डिते त्वयि नैतदुपपद्यते । वीरतसस्तुत्यस्य तव नैतद्युक्तमित्यर्थः । हे परन्तप शत्रुर्क्षयं क्षुद्रं क्षुद्रत्वकारणं निकृष्टत्वापादकं हृदयदौर्बल्यमर्थं मन-कालुष्यमेतत्त्यक्त्वोत्तिष्ठ । युद्धाय मज्जदो भवेत्यर्थः ।

नित्य आत्मा इति

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावाद्वांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥२-११॥

न शोन्या अशोच्या भीष्मद्रोणादयः, सद्ब्रह्मत्वात्, परमार्थस्वरूपेण च नित्यत्वान् । तान् अशोच्यान् अन्वशोचः अनुशोचितवान् असि 'ते म्रियन्ते मामिमित्तम् अहं तैः विनाभूतः किं करिष्यामि राज्यमुत्वादिना ?' इति त्वं प्रजावतां बुद्धिमतां वादान् वचनानि च भाषसे । तदेतन् मौढ्यं पाण्डित्यं च विरुद्ध आत्मनि दर्शयामि उन्मत्त इव इत्यभिप्रायः । यस्मान् गतासूंश्च गतप्राणान् मृतान् अगतासूंश्च अगतप्राणान् जीवतः च न अनुशोचन्ति पण्डिताः आत्मज्ञाः पण्डा आत्मविषया बुद्धिः येषां ते हि पण्डिताः । परमार्थतस्तु तान् नित्यान् अशोच्यान् अनुशोचामि, अतो मद्रोऽमि दृष्टमिप्रायः ।

न त्वेचाहं जानु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे धयमतः परम् ॥२-१२॥

न तु एव जानु कदाचित् अहं नामम्, किन्तु आसमेव । अतीतेषु देहोत्पत्ति-विनाशेषु घटादिषु विचदिव नित्य एव अहम् आसम् इत्यभिप्रायः । तथा न त्वं

नामीः किन्तु आमीरेव । तथा न इमे जनाधिपाः न आसन्, किन्तु आसन्नेव । तथा न च एव न भविष्याम', किन्तु भविष्याम एव सर्वे वयम् अतः अस्मान् देहविनाशान् परम् उत्तरकालेऽपि । त्रिष्वपि कालेषु नित्या आत्मस्वरूपेण इत्यर्थः । देहभेदानुवृत्त्या बहुवचनम्, न आत्मभेदाभिप्रायेण ।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धौरस्तत्र न मुह्यति ॥२-१३॥

देह अग्न्य अस्तीति देहो तस्य देहिनो देहवत आत्मनः अस्मिन् वर्तमाने देहे यथा येन प्रकारेण कौमारं कुमारभावो बाल्यावस्था यौवनं यूनो भावो मध्यमावस्था, जरा वयोहानिः जीर्णावस्था इत्येताः तिस्रः अवस्थाः अन्योन्यविलक्षणः । तानां प्रथमावस्थानारी न नाश, द्वितीयावस्थोपजने न उपजनमात्मनः । किं तर्हि ! अवि-  
क्रियस्यैव एकस्य द्वितीयनृतीयावस्थाप्राप्ति आत्मनो दृष्टा । तथा तद्देव देहान् अन्यो देहो देहान्तरं, तस्य प्राप्तिः अविक्रियस्यैव आत्मन इत्यर्थः । धौरो धीमान् तत्र एवं मति न मुह्यति न मोहम् आपद्यते ।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ २-१७ ॥

अविनाशि न विनष्टुं शीलम् अस्तीति । तुशब्दः असतो विशेषणार्थः । तत् विद्धि विजानीहि । किम् ? येन सर्वम् इदं जगत् तत् व्याप्तं सदाख्येन ब्रह्मणा साक्षात् आकाशेनेव घटादयः । विनाशम् अदर्शनम् अभावम् । अव्ययस्य न ध्येति उपचयापचयो न याति इति अव्ययं तस्य अव्ययस्य । न एतत् सदाख्यं ब्रह्म स्वेन रूपेण ध्येति, दृग्भिचरति निरवयवत्वात् । अतः अव्ययस्य अस्य ब्रह्मण-  
विनाशं न कश्चित्कर्तुमर्हति, न कश्चित् आत्मानं विनाशनयितुं शक्नोति ईश्वरोऽपि । आत्मा हि ब्रह्म, स्वात्मनि च क्रियाविरोधान् ।

न जायते म्रियते वा कदाचित्

नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२-२०॥

याशब्दः चार्थे । कदाचित्शब्दः सर्वविक्रियाप्रतिषेधैः सम्बद्धयते न कदाचित् जायते उपपद्यते तथा न कदाचित् म्रियते वा न म्रियते च । यस्मान् अयम् आत्मा

भूत्वा भवनक्रियाम् अनुभूय पथान् अभविता अभावं गन्ता न भूयः पुनः, तस्मान् न म्रियते । यो हि भूत्वा न भविता स म्रियते इत्युच्यते लोके । वाशब्दान् नशब्दाच्च अयम् आत्मा अभूत्वा वा भविता देहवत् न भूयः पुनः । तस्मात् न जायते यो हि अभूत्वा भविता स जायते इति उच्यते । नैवम् आत्मा । अतो न जायते । यस्मान् एवं तस्मात् अजः । यस्मात् न म्रियते तस्मात् नित्यः च । शश्वद्भवशाश्वतः । न अपञ्चीयते स्वरूपेण निरवयवत्वात् । निर्गुणत्वाच्च नापि गुणक्षयेण अपञ्चयः । पुराणः यो हि अवयवागमेन उपञ्चीयते संवर्धते, अभिनव इति च उच्यते । अयं तु आत्मा निरवयवत्वान् पुरापि नव एवेति पुराणः, न वर्धते इत्यर्थः । तथा— न हन्यते । हन्तिः अत्र विपरिणामार्थे द्रष्टव्यः अपुनरुक्ततायै । न विपरिणमते इत्यर्थः । हन्यमाने विपरिणम्यमानेऽपि शरीरे ॥ अस्मिन् मन्त्रे पद् भावविकाराः लौकिकवस्तुविक्रिया आत्मनि प्रतिविध्यन्ते । सर्वप्रकारविक्रियारहितः आत्मा इति वाक्यार्थः ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय  
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।  
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-  
न्यान्यानि संयाति नवानि देही ॥२-२२॥

वामासि वस्त्राणि जीर्णानि दुर्बलतां गतानि यथा लोके विहाय परित्यज्य नवानि अभिनवानि गृह्णाति उपादत्ते नरः पुन्यः अपराणि अन्यानि, तथा तद्देवशरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति मंगच्छति नवानि देही आत्मा पुरुषवन् अविक्रिय एवेत्यर्थः ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।  
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२-२३॥

एनं प्रकृतं देहिनं न छिन्दन्ति शस्त्राणि निरवयवत्वान् न अवयवविभागं कुर्वन्ति । शस्त्राणि अस्त्रादीनि । तथा न एनं दहति पावकः, अग्निरपि न मस्तीकरोति । तथा—न च एनं क्लेदयन्ति आपः अपां हि सावयवस्य वस्तुनः आर्द्राभावकरणेन अवयवविक्षेपापादने सामर्थ्यम् । तन् न निरवयवे आत्मनि सम्भवति । तथा स्नेहवन् द्रव्यं स्नेहशोषणेन नाशयति वायुः । एनं तु आत्मानं न शोषयति मारुतः अपि ।



अच्छेद्योऽयमदाहोऽयमक्लेशोऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरखलोऽयं सनातनः ॥२-२५॥

यस्मात् अन्वोन्यनाशहेतुनि भूतानि एतम् आत्मानं नाशयितुं न उक्तहन्ते तस्मात्  
नित्यः । नित्यत्वात् सर्वगतः । सर्वगतत्वात् स्याणुरिव स्थिर उच्यते । स्थिरत्वात् अचलः  
अदम् आत्मा, अतः सनातनः चिगन्तः न कारणान् कृत्वाधिक्रियन्नः, अभिनव इत्यर्थः ।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमधिकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हामि ॥२-२६॥

सर्वकारणविषयत्वात् न व्यक्तं इति अव्यक्तः अदम् आत्मा । अत एव  
अचिन्त्यः अदम् । यत् हि इन्द्रियगोचरः तत् चिन्ताविषयत्वम् आपद्यते । अतं तु  
आत्मा अनिन्द्रियगोचरत्वात् अचिन्त्य अविचार्य अग्रम्, यथा चरं दध्यन्तनादिना  
विचारि न तथा अदम् आत्मा । निर्वयत्वात् च अक्रिय । न हि निरवयवं विधित्  
विक्रियान्तं दृष्टम् । अक्रियत्वात् अविचार्यः अदम् आत्मा उच्यते । तस्मात् एवं  
यथोक्तप्रकारेण एनं आत्मानम् विदित्वा त्वं न अनुशोचितुम् अर्हामि इन्द्रादप्येतां  
मया एते इत्यनेन ।

अथ चैनं नित्यजानं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नयं शोचितुमर्हामि ॥२-२६॥

अथ च इति अभ्युपगमार्थः । एनं प्रकृतम् आत्मानं नित्यजानं लोकप्रसिद्ध्या  
प्रत्यनेकप्रारोप्यति जानते जानः इति वा मन्यसे, तथा प्रति तत्प्रतिनामं नित्यं वा  
मन्यसे मृतं मृता मृतः इति; तथापि तथाभावेऽपि आत्मनि त्वं महाबाहो न एवं  
शोचितुम् अर्हामि, जन्मवन्तौ नाशः नाशवन्तौ जन्म वेति एतौ अवयवभावितौ इति  
तस्मात् ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

तस्मात्परिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२-२७॥

जानस्य हि लघ्वजन्मनः ध्रुवः अल्पनिचारी चतुः नरगं ध्रुवं जन्म मृतस्य  
च । तस्मात् अपरिहार्योऽयं जन्मनरपलक्षणः अर्थः तस्मिन् अपरिहार्ये अर्थे न त्वं  
शोचितुम् अर्हसि ।

अध्यक्षादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अध्यक्तनिधनान्येष तत्र का परिदचना ॥२-२८॥

अव्यक्तादीनि—अव्यक्तम् अदर्शनम् अनुपलब्धिः आदिः येषां भूतानां पुत्रमित्रादिकार्यमरणसंघातात्मकानां तानि अव्यक्तादीनि भूतानि प्राक् उत्पत्तेः । उत्पन्नानि च प्राक् मरणान् व्यक्तमभ्यानि । अव्यक्तनिधनानि एव पुनः अव्यक्तम् अदर्शनं, निधनं मरणं येषां तानि अव्यक्तनिधनानि । मरणान् ऊर्ध्वं अव्यक्ततामेव प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः । तत्र का परिदेवना—को वा प्रलापः अहृष्टहृष्टप्रनष्टभ्रान्तिः भूतेषु इत्यर्थः ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम् आश्चर्यवद्बदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् २-२९॥

आश्चर्यवत् आश्चर्यम् अहृष्टं पूर्वम् अद्भुतम् अकस्मात् हृदयमानं तेन तुल्यम् आश्चर्यवत् आश्चर्यमिव एनम् आत्मानं पश्यति कश्चित् । आश्चर्यवत् एनं वदति तथैव च अन्यः, आश्चर्यवत् च अन्यः शृणोति । श्रुत्वा दृष्ट्वा उक्त्वा अपि एनम् आत्मानं वेद न चैव कश्चित् । अथवा—यः इमम् आत्मानं पश्यति स आश्चर्यतुल्यः । सो वदति यथा शृणोति, स अनेकसहस्रेषु कश्चिदेव भवति । अतः दुर्बोधः आत्मा इत्यभिप्रायः ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२-३०॥

देही शरीरी नित्यं सर्वदा सर्वाविस्थासु अवध्यः निरवयवत्वाच्चिन्मत्वाच्च तत्र अवध्योऽयं देहे शरीरे सर्वस्य सर्वगतत्वात् स्थावरादिषु स्थितोऽपि । सर्वस्य प्राणिजातस्य देहे वक्ष्यमानेऽपि अर्थं देही न वध्यः यस्मात् तस्मात् भीष्मादीनि सर्वाणि भूतानि उद्दिश्य न त्वं शोचितुम् अर्हसि ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥२-३१॥

स्वधर्मम् अपि स्वो धर्मः क्षत्रियस्य धर्मः युद्धं तमपि अवेक्ष्य त्वं न विकम्पितुं प्रचलितुम् अर्हसि । धर्मात् क्षत्रियस्य स्वाभाविकात् धर्मात् आत्मस्वाभाव्यादित्यभिप्रायः । तच्च युद्धं पृथिवीजयद्वारेण धर्मार्थं प्रजारक्षार्थं चेति परमं धर्म्यम् । धर्मात् अनपेतं धर्म्यम् । तस्मात् धर्म्यात् युद्धात् श्रेयः अन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते हि यस्मात् ।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥२-३२॥

यदृच्छया च—अप्रार्थितम् उपपन्नम् आगतं स्वर्गद्वारम् अपावृतम् उद्घाटितं ये एतत् ईदृशं युद्धं लभन्ते क्षत्रियाः हे पार्थ किं न सुखिनः ते ?

सुस्तदुःखे समे तुल्ये कृत्वा, रागद्वेषौ ( अपि ) अकृत्वा इत्येतत् । तथा  
लाभालाभौ जयाजयौ च समौ कृत्वा ततो युद्धाय युज्यस्व षट्स्र । न एवं युद्धं  
पूर्वन् पापम् अवाप्स्यसि । ( इति ) एष उपदेशः प्रासङ्गिकः ॥

### कर्मयोगः

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलेहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥२-४७॥

कर्मणि एव अधिकारः, न ज्ञाननिष्ठाया ते तत्र । तत्र च कर्म कुर्वत. मा  
फलेषु अधिकार. अस्तु कर्मफलनृष्णा मा भूत् कदाचन कस्याचिदपि अवस्थायाम्  
इत्यर्थः । यदा कर्मफले तृष्णा ते स्यात् तदा कर्मफलप्राप्तेः हेतुः स्याः, एवं मा कर्म-  
फलहेतुः भूः । यदा हि कर्मफलतृष्णाप्रयुक्तः कर्मणि प्रवर्तते तदा कर्मफलमैव  
जन्मनः हेतुः भवेत् । यदि कर्मफलं न इच्छते, किं कर्मणा दुःखरूपेण ? इति मा ते  
तव सङ्गः अस्तु अकर्मणि अकरणे प्राप्तिः मा भूत् ।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ३-५ ॥

न हि यस्मात् क्षणमपि कालं जातु कदाचित् कश्चिन् तिष्ठति अकर्मकृत् सन् ।  
कस्मात् ? कार्यते प्रवर्त्यते हि यस्मान् अवश एव अस्वतन्त्र एव कर्म सर्वः प्राणा  
प्रकृतिजैः प्रकृतितो जातैः सत्त्वरजस्तमोभिः गुणैः । अज्ञ इति वाक्यशेषः । यतः  
वक्ष्यति 'गुणैर्यो न विचात्यते' इति । सांख्यानं पृथक् करणात् अज्ञानामेव हि कर्मयोगः  
न ज्ञानिनाम् । ज्ञानिनो तु गुणैरचात्यमानानां स्वतः चलनाभावत् कर्मयोगो न उपपद्यते ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥ ३-८ ॥

नियतं नित्यं ( शास्त्रोपदिष्टं ) यो यस्मिन् कर्मणि अधिकृतः फलाय च अधृतं  
तन् नियते कर्म, तन् कुरु त्वं हे अर्जुन, यतः कर्मज्यायः—अधिकतरं फलतः, किं  
यस्मात् अकर्मणः—अकरणत् अकारणम् । कथम् ? शरीरयात्रा शरीरस्थितिः अपि  
च ते तव न प्रसिद्धे—प्रसिद्धिं न गच्छेत् अकर्मणः अकरणात् । अतः दृष्टः  
कर्माकर्मणोः विशेषः लोके ।

कर्मण्ये हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥३-२०॥

कर्मणो हि पूर्वे धर्मिकाः विद्वांसः तस्मिन्निदं भाषं गन्तुन् आश्रिताः प्रभुः ।  
 के २ जनकद्वयः—जनकद्वयप्रभृतयः । यदि ते प्राणमन्वदमौताः, ततः लोकसंप्रदाये  
 प्राणमन्वदत्वात् कर्मणा मूर्खे अवन्तस्यैव कर्म तस्मिन्निदं आश्रितत्वात् इत्यर्थः । अथ  
 अशाणमन्वदमौताः जनकद्वयः तदा कर्मणा कल्पशुद्धिप्राप्त्यर्थेन कर्मणो तस्मिन्नि-  
 दं भाषिता इति व्याख्यानं श्रेष्ठम् । अथ मन्वदे—दूरिणी (जनकशशिनिः) अत्रात्तद्विः  
 एव कर्मस्य कर्म कृतं तावदा न वग्नं अन्वेत् कर्मस्य मन्वदमन्वदत्वात् कृतार्थेन इति ।  
 तथापि प्रारम्भकर्मोक्तम् : त्वं लोकसंप्रदाये एव अत्र लोकस्य उन्मत्तप्रवृत्तिविवरणं  
 लोकसंप्रदायः, तमेवैति प्रयोगं सांख्यं कर्तुन् अर्हसि ।

यद्यदाचरति श्रेष्ठतत्तद्वैतरो जनः ।

स यन्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥३-२३॥

यद्यत् कर्म आचरति करोति धेयुः प्रवृत्तः तद्वैव कर्म आचरति इत्यर्थः जनः  
 तदनुवर्तते । किं च न श्रेष्ठं न प्रमाणं कुरुते लोकस्यैव वैदिकं वैदिकं वा लोकं तत्  
 अनुवर्तते तदेव प्रमाणं करोति इत्यर्थः ।

### यागसाधनविधिः

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६-५ ॥

उद्धरेत्—उद्धरेत्कारो निजस्य आत्मनम् आत्मना ततः उद्धरेत् इति  
 उद्धरेत् योगसूत्रस्य आसादयेत् इत्यर्थः । न आत्मनम् अवसादयेत् न अत्रः नरेत्  
 आत्मैव हि यन्नात्मानतः बन्धुः । यदि अन्यः कश्चित् बन्धुः सः संसारसन्धे  
 नवति । बन्धुस्य तावत् मोक्षं प्रति प्रवृत्तिश्च एव । स्नेहादिवन्धवत्तत्तत्त्वात् । तस्मात्  
 तुल्यम् अवसादयन् । आत्मैव आत्मनो बन्धुः इति । आत्मैव रिपुः शत्रुः । यः अन्यः  
 आहारी वायुः शत्रुः सोऽपि आत्मनस्तुल्यः एव इति तुल्येन अवसादयन् 'आत्मैव  
 रिपुरात्मनः' इति ।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे घनेत्रात्मैव शत्रुघ्नम् ॥ ६-६ ॥

बन्धुः आत्मा अत्मनः तस्य तस्य अत्मनः स आत्मा बन्धुः येन अत्मना  
 आत्मैव जितः, आत्मा इत्यन्तर्यामिनी येन वर्माकृतः, विद्विग्धः इत्यर्थः ।  
 अनात्मनः तु—अत्रिणात्मनः तु शत्रुत्वे-शत्रुत्वं वर्तेते आत्मैव शत्रुघ्नं यथा  
 अनात्मा शत्रुः अत्मनः अवसादी, तथा आत्मा अत्मनः अवसादे वर्तेते इत्यर्थः ।

योगी युञ्जीत मत्ततमान्मानं र्हसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तान्मा निगर्शारपरिग्रहः ॥६-१०॥

योगी ध्यायी, युञ्जीत मन्नाद'यात्, मत्तत सर्वदा आत्मानम् अन्तःकरणे र्हसि  
अशान्ते गिरिगुह्यादौ स्थितः सन् एकाकी अमहावः 'र्हसि स्थितः एकाकी च' इति  
विशेषणान् संन्यासं कृत्वा इत्यर्थः, यतचित्तान्मा, चित्तम् अन्तःकरणम् आत्मा देहश्च  
संयतौ यस्य सः यतचित्तान्मा, निगर्शो, वीतवृणः, अपरिग्रहः परिग्रहरहितव्यर्थः ।  
संन्यासित्वेऽपि न्यक्तगर्वापरिग्रहः सन् युञ्जीत इत्यर्थः ।

शुची देशे प्रतिपद्याथ स्थिरधामनमान्मनः ।

नान्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥६-११॥

शुची शुद्धे भित्तं स्वभावतः संस्कारतो वा, देशे स्थाने प्रतिपद्याथ स्थिरम् अचलम्  
आत्मनः धामनं नान्युच्छ्रितं नातीव उच्छ्रितं न अपि, अतिनीचं तच्च चैलाजिन-  
कुशोत्तरं चैलं अजिनं कृशाथ उत्तरे यस्मिन् धामने तत् धामनं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।  
पाठक्रमान् विपरीतः अत्र क्रमः चैलादीनाम् ।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यामने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥६-१२॥

तत्र तस्मिन् धामने उपविश्य योगं युञ्ज्यात्, कथं ? सर्वविषयेभ्यः उपसंहृत्य  
एकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः चित्तं च इन्द्रियाणि च चित्तेन्द्रियाणि तेषां क्रिया  
संयता यस्य स यतचित्तेन्द्रियक्रियः । स किमर्थं योगं युञ्ज्यात् इत्याह-आत्मविशुद्धये  
अन्तःकरणस्य विशुद्धयर्थम् इत्येतात् ।

ममं कायशिरोप्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥६-१३॥

ममं कायशिरोप्रीवं—कायश्च शिरश्च प्रीवा च कायशिरोप्रीवं तत् मनं  
धारयन् अचलं च । ममं धारयतः चतनं मम्मवति; अतः विविनिर्दिष्टं अचलम् इति ।  
स्थिरः स्थिगे भूत्वा इत्यर्थः । स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य मम्यद्-प्रेक्षणं दर्शनं कृत्वा इति  
इति, इवगन्धो लुप्तः इष्टम्यः । नहि स्वनासिकाग्रसंप्रेक्षणम् अत्र विविर्निमित्तम् । किं  
नहि ? चक्षुषोः दृष्टिमितिपातः । दिग्भ्रम अनवलोकयन् दिशां च अवलोकनं अन्नग  
दर्शनं इत्येतात् ।

प्रशान्तान्मा धिगतभीमैल्लचारिवने स्थितः ।

मनः संयम्य मधिलौ युक्त आसीत् मन्परः ॥६-१४॥

प्रदान्तात्मा—प्रक्षेपेण शान्तः आत्मा अन्तःकरणं यस्य सोऽयं प्रदान्तात्मा, विगतभीः—विगतभयः, ब्रह्मचारिव्रते स्थितः—ब्रह्मचारिणो व्रतं ब्रह्मचारिव्रतं ब्रह्मवैयं गुग्गुलुभाभिश्चाक्षुभुस्यादि तस्मिन् स्थितः, तदनुष्ठाता भवेत् इत्यर्थः । विद्य—मनः संयम्य मनसः वृत्तीः उपरमं ह्येत्येनत्, मच्चित्तः मयि परमेश्वरे चित्तं यस्य सोऽयं मच्चित्तो युक्तः समाहितः सत् आसीत् उपदिशत् । मन्वरः—अहं परो यस्य सोऽयं मत्परो भवति ।

युक्त्वैवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥६-१५॥

युजन्—समाधानं कुर्वन्, एवं यथोक्तेन दिवानेन सदा आत्मानं सर्वदा योगी नियतमानसः—नियतं सयतं मानसं मनो यस्य सोऽयं नियतमानसः—शान्तिं उपरतिं, निर्वाणपरमां—निर्वाणं मोक्षं तत् परमा निष्ठा यस्याः शान्तेः सा निर्वाण-परमा सा निर्वाणपरमो मत्संस्था मदर्धानाम् अधिगच्छति प्राप्नोति ।

नात्यश्रतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्चतः ।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥६-१६॥

न अन्यश्रतः—आत्मसंमितम् अत्रपरिमाणम् अतीत्याश्रतः अत्यश्रतः न योगः अस्ति । न च एतान्तम् अनश्रतः योगः अस्ति । न च अतिस्वप्नशीलस्य योगो भवति । नैव च अतिमात्रं जाग्रतो योगो भवति च अर्जुन ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥६-१७॥

युक्ताहारविहारस्य—आहियते इति आहारः अन्नं, विहरणं विहारः पादव्रतः, तौ युक्तौ नियतपरिमाणौ यस्य स युक्ताहारविहारः तस्य, तथा युक्तचेष्टस्य—युक्ता नियता चेष्टा यस्य कर्मसु तस्य, तथा युक्तस्वप्नावबोधस्य—युक्तौ स्वप्नश्च अबबोधश्च तौ नियतकार्यौ यस्य तस्य, युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु युक्तस्वप्नावबोधस्य योगिनो योगो भवति दुःखहा—दुःखानि सर्वाणि हन्तीति दुःखहा सर्वममारुदु स-क्षयकृत् योगः भवति इत्यर्थः ।

यदा चिन्वितं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥६-१८॥

यदा चिन्वितं विशेषेण नियतं संयतम् एकाग्रताम् आपन्नं चित्तं हिन्वा वाक्यार्थ-

चिन्ताम् आत्मन्येव केवले भवतिष्ठते, स्वात्मनि स्थिति लभते इत्यर्थः । निःस्पृह सर्वनामेभ्यः—निर्गता दृष्टादृष्टविषयेभ्यः स्पृहा तृष्णा यस्य योगिनः मयुक्तः समाहितः इत्युच्यते तदा तस्मिन् काले ।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥६-१९॥

यथा दीपः प्रदीपः निवातस्थः निवातं वातवर्जिते स्थाने स्थितः न इङ्गते न चलति, सा उपमा उरामीयते अनया इत्युपमा योगज्ञैः चित्तप्रचारदर्शिमि स्मृता चिन्तितः योगिनो यतचित्तस्य संयतान्तःकरणस्य युञ्जतो योगम् अनुत्तिष्ठतः आत्मनः समाधिम् अनुत्तिष्ठतः इत्यर्थः ।

संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥६-२४॥

संकल्पप्रभवान् संकल्पः प्रभवः येषां कामानां ते संकल्पप्रभवाः कामाः तान् त्यक्त्वा परित्यज्य सर्वान् अशेषतः निर्लेपेन । किं च मनसैव विवेकयुक्तेन इन्द्रियग्रामम् इन्द्रियसमुदायं विनियम्य नियमनं कृत्वा समन्ततः समन्तान् ।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥६-२५॥

शनैः शनैः न सहसा उपरमेन् उपरतिं कुर्यात्, कया—बुद्ध्या किं विशिष्टया ?—धृतिगृहीतया धृत्या धैर्येण गृहीतया धैर्येण युक्तया इत्यर्थः । आत्मसंस्थम् आत्मनि संस्थितं 'आत्मैव सर्वं न ततः अन्यत् किञ्चित् अस्ति' इत्येवं आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् । एष योगस्य परमः विधिः ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥६-२६॥

यतो यतः यस्माद्यस्मान् निमित्तान् शब्दादेः निश्चरति निर्गच्छति स्वाभाविकदोषान् मनः चंचलम् अत्यर्थं चलम्, अत एव अस्थिरं, ततस्ततः तस्मात्तस्मान् शब्दादेः निमित्तान् नियम्य तत्तन्निमित्तं याथात्मनिरूपणेन आभासीकृत्य वैराग्यभावनाया च एतन् मनः आत्मन्येव वशं नयेत् आत्मवदृश्याम् आरादयेत् । एवं योगाभ्यासबलात् योगिनः आत्मन्येव प्रशाम्यति मनः ।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥६-२८॥

सुखत्वं यथास्तेन क्रमेण योगी योगान्तरायवर्जितं गदा सर्वदा आत्मानं  
विगतकाम्यं विगतपापं सुखेन अनादात्मन ब्रह्मणा परेण संस्पर्शं यस्य तत् ब्रह्म-  
सम्पर्गम् अन्तर्मर्त्याय वर्तते इति अन्वयान्तम् उन्वृष्टं निरतिगम्यं सुखम् अस्तुतं व्याप्नोति ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥६-३२॥

आत्मौपम्येन आत्मा स्वमेव उपमायते अतया इति उपमा तस्या उपमाया  
भाव आत्म्यम् तेन आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतेषु समं सुखं पश्यति यः अर्जुन, स  
च किं समं पश्यति इति ? उच्यते—यथा मम सुखम् इष्टं तथा सर्वप्राणिनां सुखम्  
अनुकूलम् । वाच्यदः स्वार्थे । यदि वा यच्च दुःखं मम प्रतिकूलम् अनिष्टं यथा, तथा  
सर्वप्राणिनां दुःखम् अनिष्टं प्रतिकूलम् इत्येवं आत्मौपम्येन सुखदुःखे अनुकूलप्रतिकूले  
तुल्यतया सर्वभूतेषु समं पश्यति, न कस्यचित् प्रतिकूलमाचरति, अहिंसक इत्यर्थः ।  
य एवम् अहिंसकः सम्पददर्शननिष्ठः स योगी परमः उन्वृष्टः मनः अभिप्रेतः सर्व-  
योगिना मन्वे ।

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वान् स्थितिं स्थिराम् ॥६-३३॥

यः श्रवं योगः त्वया प्रोक्तः साम्येन समत्वेन हे मधुसूदन एतस्य योगस्य  
अहं न पश्यामि नोपलभे चञ्चलत्वान् मनसः—द्वि-स्थिराम् अचलां स्थितिम् ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥६-३४॥

कृष्ण इति कृपतेः विनेखनार्थस्य रूपम् । भक्तजनपापादिदोषार्थगतान् कृष्णः  
तस्य मधुसूदिः हे कृष्ण, हि यस्मान् मनः चञ्चलं न केवलम् अन्यथै चञ्चलं, प्रमाथि  
च प्रमथनशीलं प्रमथ्नाति शरीरम् इन्द्रियाणि च विचिन्तन् सत् परवर्तीकरोति ।  
द्विच बलवान् प्रबलं, न केनचित् नियन्तुं शक्यम् । दुर्निवारत्वान् द्विच दृढं  
ननुतामवत् अच्छेद्यम् । तस्य एवंभूतस्य मनस अहं निग्रहं निरोधं मन्ये वायोरिव  
यथा वायोः दुष्करो निरोधः ततोऽपि मनसः दुष्करं मन्ये इत्यभिप्रायः ।

श्री भगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय यैराग्येण च गुरानं ॥६-३५॥



अमंशयं नाम्नि संशयो द्वे महाबाहो मनो दुर्निप्रहं च त्म इत्यत्र । किन्तु—  
अभ्यासेन तु, अभ्यागो नाम चित्तभूमौ कस्याचिद् समानप्रत्ययावृत्तिः चित्तस्य ।  
वैराग्येण वैराग्यं नाम दृष्टादृष्टेष्टभोगेषु दोषदर्शनाभ्यासात् वैतृष्यम् । तेन च वैराग्येण  
गृह्यते विक्षेपरूपः प्रचारः चित्तस्य । एवं तत् मनः गृह्यते निगृह्यते निरूप्यते इत्यर्थः ।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वदयात्मना तु यतता शक्योऽद्यान्तमुपायतः ॥६-३६॥

अभ्यागवैराग्याभ्याम् असंयतम् आत्मा अन्तःकरणं यस्य सः असंयतात्मा  
तेन असंयतात्मना योगो दुष्प्रापः दुःखेन प्राप्यते इति मे मतिः । यस्तु पुन  
वदयात्मा अभ्यागवैराग्याभ्यां वदयन्वम् आपादितः आत्मा मनः यस्य सः तेन  
वदयात्मना तु यतता भूयोऽपि प्रयत्नं कुर्यात् शक्यः अवाप्तुं योगः उपायतः  
यथोक्तान् उपायान् ।

## भक्तियोगः

श्रीभगवानुवाच—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥१२-६॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि ईश्वरे संन्यस्य मत्पराः अहं परः येषां ते मत्पराः  
गन्तः अनन्येनैव अविद्यमानम् अन्यत् आलम्बनं विश्वरूपं देवम् आत्मानं मुक्त्वा  
यस्य सः अनन्यः तेन - अनन्येनैव केन ? योगेन समाधिना मां ध्यायन्तः चिन्तयन्तः  
उपासते ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥१२-७॥

तेषां मत्प्राप्तनैरुपराणाम् अहं ईश्वरः समुद्धर्ता कुतः इत्याह मृत्युसंसार-  
सागरात् मृत्युयुक्तः संसारः मृत्युसंसारः, न एव सागर इव सागरः, दुस्तरत्वात्,  
तस्मात् मृत्युसंसारसागरात् अहं तेषां समुद्धर्ता भवामि न चिरात् मयि आवेशितं  
गमाहितं चित्तः येषां ते मय्यावेशितचेतसः तेषाम् ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥१२-८॥

मयि एव विश्वरूपे ईश्वरे मनः संकल्पविकल्प्यात्मकं समाधत्स्व स्थापय । मयि  
एव अयवमार्यं कुर्वन्तीं बुद्धिं च आधत्स्व निवेशय । ततः ते किं स्यात् ? इति शृणु—

निवर्तयति—निरन्तरं निश्चिंतं नडात्मना मयि वारं करिष्यसि एव, अतः दुर्ग-  
पत्तदं कर्तव्यं । न संशयः—संशयः अत्र न कर्तव्यः ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगत ततो मामिच्छान्तुं धनञ्जय ॥१२-५॥

अथ एतं कदा भवितवान् तथा मयि चित्तं समाधातुं स्थापयितुं स्थिरम् अत्र  
न शक्नोषि चेत्, तत्र पश्चात् अभ्यासयोगेन, चित्तस्य एतस्मिन् आत्मन्वने सर्व-  
समाहृत्य पुनः पुनः स्थापनम् अभ्यासः, तदूर्ध्वं योगः समापान उच्चगमनेन अभ्यास-  
योगेन ना विश्वस्वम् दृष्टं शरीरस्य आर्तुं हे धनञ्जय ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् मिद्धिमचाप्स्यसि ॥१२-१०॥

अभ्यासे अपि असमर्थः, अस्मि प्रशक्तः अस्मि, तर्हि मत्कर्मपरमः भव, मदर्थं  
कर्म मत्कर्म, तत्परमः मत्कर्मपरमः मत्कर्मप्रधानः इत्यर्थः । अभ्यासेन विना मदर्थमपि  
कर्माणि कुर्वन् कुर्वन् मिद्धि मत्कर्मप्रयोगान्प्रदासिद्वारेण अकाम्यसि ।

अर्थदृष्ट्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।

सर्वकर्मफलन्यासं ततः कुरु यतान्मथान् ॥१२-११॥

अथ पुनः एतद्वारं वत् उक्तं मत्कर्मपरमत्वं तव कर्तुं अशक्तः असि मद्योगं  
आश्रितः मयि शिवनाशानि कर्माणि संन्यस्य तत्कर्म तेषां अनुष्ठानं तु मद्योगः तै  
आश्रितः इत्—सर्वकर्मफलन्यासं तेषां कर्मणां कृतसंग्रहं सर्वकर्मफलन्यासे ततः  
अनन्तरं कुरु यतान्मथान् संयतचित्तः इत् इत्यर्थः ।

धेयां हि ज्ञाननभ्यामाज्ञानाद् ध्याने विशिष्यते ।

ध्यानान्धर्मफलन्यागन्ध्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२-१२॥

धेयः हि प्रशस्यतरं ज्ञानं—इत्यत्र ?—(अ) विवेकपूर्वधरं अज्ञानात् ।  
तन्नादपि ज्ञानात् जन्तुर्वैदं ध्यानं विशिष्यते । जन्तवो ध्यानात् अपि धर्मकृत्यानां  
'विशिष्यते' इति अनुभवते । एवं धर्मकृत्यानात् पूर्वोक्तविशेषात्ततः (११) ध्यानेः  
तदानीं सहेतुकस्य संसारस्य अनन्तरम् एव स्यात्, न कारणान्तरम् अत्रिते ।

अद्वेषा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमा ॥१२-१३॥

अद्वेषा सर्वभूतानां—वैदः भूतानां न द्वेषः आत्मनः दुःखदुःखनिर्जन  
किञ्चिद् द्वेषः, सर्वानि भूतानि आत्मन्वितं परतः । मैत्रः—निर्ममः मैत्रं, मित्र-

तथा वर्तते इति मैत्रः, कष्ट एव च, कष्टा कृपा दुःखितेषु दया, तद्वान् कष्टः सर्वभूताभयप्रदः संन्यासी इत्यर्थः । निर्ममः—मम प्रत्ययवर्जितः निरहङ्कार — निर्गताहंप्रत्यय । समदुःखमुक्तः—ममे दुःखमुखे द्वेषरागयोः प्रवर्तके यस्य मः समदुःखमुराः । क्षमा क्षमावान्, आकुष्ट. अभिहतो वा अविक्रिय. एव आस्ते ।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२-१४॥

सन्तुष्टः सततं नित्यं, देहस्थितिकारणस्य लाभे अलाभे च उत्पन्नालंप्रत्यय. । तथा गुणवद्भवे विपर्यये च सन्तुष्टः । सततं योगी समाहितचित्त । यतात्मा संयत-स्वभावः । दृढनिश्चयः, दृढः स्थिरः निश्चयः अभ्यवसायः यस्य अभ्यात्मतत्त्वविषये स दृढनिश्चयः, मय्यर्पितमनोबुद्धि मन्त्रापिकल्प्यात्मकं मनः, अयवसायलक्षणा बुद्धि ते मय्येव अर्पिते स्थापिते यस्य संन्यासिन. स मय्यर्पितमनोबुद्धि । य ईदृश मद्भक्त. स मे प्रियः ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१२-१५॥

यस्मात् संन्यासिनः न उद्विजते न उद्वेगं गच्छति, न संतप्यते, न संक्षुभ्यति लोकः, तथा लोकान् न उद्विजते च यः हर्षामर्षभयोद्वेगैः, हर्षश्च अमर्षश्च भयं च उद्वेगश्च तैः हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः—हर्षः प्रियलाभे अन्तःकरणस्य उत्कर्ष. रोमाघ-नाधुपातादिलिङ्गः, अमर्षः अमहिष्णुता, भयं त्राम, उद्वेगः उद्विगता, तैः मुक्त. यः स च मे प्रियः ।

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२-१६॥

अनपेक्ष—देहेन्द्रियविषयमम्बन्धादिषु अपेक्षा यस्य नास्ति स अनपेक्षः निःस्पृहः । शुचिः, वाचेन आभ्यन्तरेण च शौचेन ममपन्नः । दक्षः—प्रत्युत्पन्नेषु कार्येषु मद्यः यथावन् प्रतिपन्नं नमर्थः, उदासीनः—न कस्यचिन् मित्रादेः पक्षं भजते यः स उदासीनः—दतिः । गतव्यथः—गतभय, सर्वारम्भपरित्यागी—आरभ्यन्ते इति आरम्भा इहामुत्रफलभोगार्थानि कामहेतूनि कर्माणि सर्वारम्भा, तान् परित्यक्तुं शीलं अम्येति सर्वारम्भपरित्यागी यः मद्भक्तः स मे प्रियः ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१२-१७॥

अपनयनं शौचम् । स्वयं स्थिरभावः, मोक्षमार्गं एव कृतव्यवसायिन्वम् । आत्मविनि-  
ग्रहः आत्मनः अपकारकतया आत्मशब्दवाच्यस्य कार्यकरणमघातस्य विनिग्रहः  
स्वभावेन सर्वतः प्रवृत्तस्य सम्मार्गं एव निरोधः आत्मविनिग्रहः ।

**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।**

**जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥१३-८॥**

इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु दृष्टादृष्टेषु विषययोगेषु विरागभावो वैराग्यम्, अनहङ्कारं—

अहङ्काराभावः एव च जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं—जन्म च मृत्युश्च जरा च  
व्याधयश्च दुःखानि च तेषु जन्मादिदुःखान्तेषु प्रत्येकं दोषानुदर्शनम् । जन्मनि  
गर्भवासयोनिद्वारनिःसरणं दोषः, तस्य अनुदर्शनम् आलोचनम् । तथा मृत्यौ दोषानु-  
दर्शनम् । तथा जरायां प्रजाशक्तितेजोनिरोधदोषानुदर्शनं, परिभूतता चेति । तथा  
व्याधिषु शिरोरोगादिषु दोषानुदर्शनम् । तथा दुःखेषु अप्यात्माधिभूताधिदेवनिमित्तेषु ।  
अपवा—दुःखान्येव दोषः दुःखदोषः तस्य जन्मादिषु पूर्ववत् अनुदर्शनं—दुःखं जन्म  
दुःखं मृत्युः, दुःखं जरा, दुःखं व्याधयः । दुःखनिमित्तत्वात् जन्मादयः दुःखानि,  
न पुनः स्वरूपेणैव दुःखमिति । एवं जन्मादिषु दुःखदोषानुदर्शनात् देहेन्द्रियादि-  
विषययोगेषु वैराग्यम् उपजायते । ततः प्रत्यगात्मनि प्रवृत्तिं करणानाम् आत्मदर्शनाय ।  
एवं ज्ञानहेतुत्वात् ज्ञानम् उच्यते दुःखदोषानुदर्शनम् ॥

**असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।**

**नित्यं च समचित्तत्यमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१३-९॥**

असक्तिः सक्तिः सङ्गनिमित्तेषु विषयेषु प्रीतिमात्रं, तदभावः असक्तिः ।  
अनभिष्वङ्गः अभिष्वङ्गाभावः । अभिष्वङ्गो नाम आसक्तिविशेष एव अनन्यात्मभावना-  
लक्षणः, यथा अन्यस्मिन् सुस्तिनि दुःखिनि वा 'अहमेव सुखी, अहमेव दुःखी च,'  
जीवति मृते वा 'अहमेव जीवामि मरिष्यामि च' इति । क्व इति ? आह—पुत्रदार-  
गृहादिषु पुत्रेषु दारेषु गृहेषु—'आदिग्रहणात्' अन्येष्वपि अन्यन्तेष्टेषु दामवर्गादिषु ।  
तच्च उभयं ज्ञानार्थत्वात् ज्ञानम् उच्यते । नित्यं च समचित्तत्वं तुल्यचित्तता क्व ?  
इष्टानिष्टोपपत्तिषु इष्टानाम् अनिष्टानां च उपपत्तयः संग्राहयः तामु इष्टानिष्टोपपत्तिषु ।  
तच्च एतन् नित्यं समचित्तत्वं ज्ञानम् ।

**अपि चात्रन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।**

**विधित्कदेशसेधिन्यमरतिर्जनससंदि**

**॥१३-१०॥**

भयि च ईश्वरे अदन्ययोगेन—अवृथक् समाधिना 'न अन्यो भगवतो वासु-  
 देवान् पर. अस्ति, अतः म एव न गतिः' इत्येवं निर्दिष्टता अव्यभिचारिणी बुद्धिः  
 अदन्ययोग, तेन भजनं भक्तिः न व्यभिचरणशीला अव्यभिचारिणी । सा च ज्ञानम्  
 विविक्तदेशमेवित्वम्, विविक्त. स्वभावत संस्कारेण वा अशुच्यादिभिः सर्पचोरव्याघ्र-  
 भयादिभिश्च रहितः, अरप्यनर्दापुलिनदेनगृहादिभिर्विविक्तो देशः तं मेवितुं शीलम् अल्प  
 इति विविक्तदेशमेवो, तस्य भाव विविक्तदेशमेवित्वम् । विविक्ते हि देशे चित्तं  
 प्रसीदति यत, तत आन्मादिभावनाविविक्त संजायते । अत विविक्तदेशमेवित्वं  
 ज्ञानम् उच्यते । अरति अरमणं जनसंसदि, जनानां प्राकृताना संस्कारशून्यानाम्  
 अविनीताना संसत् समवाय जनसंसत्, न संस्कारवत् विनीताना संसत्, तस्याः  
 ज्ञानोपकारित्वान् । अत. प्राकृतजनसंसदि अरति. ज्ञानार्थत्वान् ज्ञानम् ।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१३-११॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं—आन्मादिविषयं ज्ञानं अध्यात्मज्ञानं, तास्मिन्, नित्य-  
 भाव- नित्यत्वम् । अमानित्वादीनां (७) ज्ञानसाधनाना भावनापरिपाकनिमित्तं तत्त्व-  
 ज्ञानं, तस्य अर्थः मोक्षः समारोपरमः, तस्य आलोचनं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्, तत्त्वज्ञानफला-  
 लोचनं हि तत्साधनानुष्ठानं प्रवृत्तिः स्यादिति । एतन् अमानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तम्  
 उक्तं ज्ञानम् इति प्रोक्तं, ज्ञानार्थत्वान् । अज्ञानं यत् अतः—एतन्मात् यथोक्तान्  
 अन्यथा विषययेण—मानित्वं, दम्भित्वं, हिंसा, अज्ञान्तिः, अनार्जवम्, इत्यादि अज्ञानं  
 विज्ञेयं परिहरणाय, संगारप्रग्निकारणत्वान् इति ।

### गुणत्रय-विभागयोगः

धीमगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१४-१॥

परं—'ज्ञानम्' इति व्यवहितेन सम्बन्धः—भूयः पुनः पूर्वेषु सर्वेषु अध्यायेषु  
 अमकन् उक्तमपि, प्रवक्ष्यामि । तच्च परं, परवस्तुविषयत्वात् । किं तन् ?—ज्ञानं सर्वेषां  
 ज्ञानानाम् उत्तमम्, उत्तमफलत्वात् । 'ज्ञानानां' इति न अमानित्वादीनां, किं तर्हि ?—  
 यज्ञादिज्ञेयवस्तुविषयाणा इति । तानि न मोक्षाय, इदं तु मोक्षाय इति परोत्तमशब्दाभ्या  
 स्तीति श्रोतृबुद्धिशुश्रुपादनार्थम् । यत् ज्ञात्वा यत् ज्ञानं ज्ञात्वा प्राप्य मुनयः—संन्यासिनः  
 भवनशीलाः सर्वे परां सिद्धिं मोक्षाख्याम् दत्तः अस्मान् देहवन्धनान् ऊर्ध्वं गताः प्राप्ताः ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।

निबन्धन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥१४-५॥

सत्त्वं रजः तमः इति एवंनामानः गुणाः, ते च प्रकृतिसम्भवा मगवन्माया-  
सम्भूताः निबन्धन्ति इव हे महाबाहो, महन्ती समयन्तरी आत्रानुप्रलम्बौ बाहु यम्  
म महाबाहु हे महाबाहो देहे शरीरे देहिनं देहवन्मम् अव्ययम् इति ।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।

सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥१४-६॥

निर्मलत्वान् रक्तिकमणिरिव प्रकाशकं, अनामयं-निरुपद्रवं, सत्त्वं तत् बध्नाति ।  
कथं ?-सुखसंगेन 'सुखा अहम्' इति विषयभूतस्य विषयिणि आत्मनि संश्लेषापादनं  
सृष्टव सुखे सञ्जनम् । सैषा अविद्या । नहि विषयधर्मः विषयिणः भवति । तथा ज्ञान-  
संगेन च ज्ञानमिति सुखसाहचर्यात् क्षेत्रम्यैव विषयस्य अन्तःकरणस्य धर्मः, न  
आत्मनः, आत्मधर्मवन्वे सदानुपपत्ते बन्वानुपपत्तेः । सुखे इव जानादीं सङ्गः मन्तव्यः ।  
अनघ अव्ययम् ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।

तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥१४-७॥

रजः रागात्मकं—रजनान् रागः गैस्कादिवद्रागात्मकं—विद्धि जानीहि ।  
तृष्णाऽऽसङ्गसमुद्भवम्—तृष्णा-अप्राप्ताभिलाषः, आसङ्गः—प्राप्ते विषये मनसः प्रीति-  
लक्षणः संश्लेषः, तृष्णाऽऽसङ्गयोः समुद्भवं तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तत् रजः निबन्धनाति  
कौन्तेय ! कर्मसंगेन, दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु सञ्जनं तत्परता कर्मसङ्गः, तेन निबन्धनाति  
रजः देहिनम् ।

तमस्त्वज्ञानतं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥१४-८॥

तमः तृतीयः गुणः, अज्ञानतमम्—अज्ञानान् जानं अज्ञानतं विद्धि । मोहनं-  
मोहकं अविवेककरं सर्वदेहिनां सर्वेषां देहवताम् । प्रमादालस्यनिद्राभिः—प्रमादश्च  
अलस्यं च निद्रा च प्रमादालस्यनिद्रा, ताभिः प्रमादालस्यनिद्राभिः तत् तमः  
निबन्धनाति भारत !

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥१४-९॥

मत्त्वं मुञ्चे सज्जयति संश्लेषयति, रजः कर्मणि हे भारत ! सज्जयति इति अनु-  
वर्तते । ज्ञानं सर्ववर्तुतं विवेकम् आरुत्य आच्छाद्य तु तमः स्वेन आवरणारमना प्रमादे  
सज्जयति उत प्रमादः प्राप्तकर्तव्याकरणम् ।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१४-१०॥

रजः तमश्च उभावपि अभिभूय सत्त्वं भवति उद्भवति वर्धते यदा, तदा  
लब्धात्मकं सत्त्वं स्वकार्यज्ञानमुख्यादि आरभते हे भारत । तथा रजो गुणः सत्त्वं तमश्च  
एव उभावपि अभिभूय वर्धते यदा, तदा कर्म तुष्णादि स्वकार्यम् आरभते । तथा एव  
तमभाख्यो गुणः सत्त्वं रजश्च उभावपि अभिभूय वर्धते यदा, तदा ज्ञानावरणादि  
स्वकार्यम् आरभते ।

• सर्वद्वारेषु देहेऽसिन् प्रकाश उपजायते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥१४-११॥

सर्वद्वारेषु—आत्मनः उपलब्धिद्वाराणि धोत्रादीनि सर्वाणि करणानि, तेषु सर्वेषु  
द्वारेषु अन्तःकरणस्य बुद्धे वृत्तिः प्रकाशः देहे असिन् प्रकाशशब्दवाच्यः सर्वद्वारेषु  
उपजायते, तदेव ज्ञानम् । यदा एवंप्रकाशो ज्ञानाख्यः उपजायते, तदा ज्ञानप्रकाशेन  
लिङ्गेन विद्यां विवृद्धम् उद्भूतम् सत्त्वम् इति उत अपि ।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१४-१२॥

लोभः परद्रव्यादिस्ता, प्रवृत्तिः प्रवर्तनं मामान्यचेष्टा, आरम्भः—कर्म—  
कर्मणाम्, अशमः अनुपशमः—हृष्यरागादि प्रवृत्तिः, स्पृहा सर्वसामान्यवस्तुविषया  
नृणां—रजसि गुणे विवृद्धे एतानि लिङ्गानि जायन्ते हे भरतर्षभ ।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१४-१३॥

अप्रकाशः—अविवेकः, अत्यन्तम् अप्रवृत्तिश्च प्रवृत्त्यभावः तत्कर्म, प्रमादो मोह  
एव च ( तत्कर्म ) अविवेकः मूढता इत्यर्थः । तमसि गुणे विवृद्धे एतानि लिङ्गानि  
जायन्ते हे कुरुनन्दन !

कर्मणः सुष्ठुतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१४-१६॥

कर्मणः सुकृतस्य—सात्त्विकस्य इत्यर्थः—आहुः शिष्टाः सात्त्विकमेव निर्मलं फलम् इति । रजसस्तु फलं दुःखं—रजसस्य कर्मणः इत्यर्थः, कर्माधिकारात्—फलम् अपि दुःखम् एव, कारणानुरूप्यात् राजसमेव । तथा अज्ञानं तमसः तामसस्य कर्मणः अधर्मस्य फलं पूर्ववत् ।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१४-१७॥

सत्त्वात् लब्धात्मकात् संजायते समुत्पद्यते ज्ञानं, रजसो लोभ एव च, प्रमाद-मोहौ प्रमादश्च मोहश्च प्रमादमोहौ उभौ तमसो गुणान् भवतः, अज्ञानमेव च भवति ।

गुणानेतानतीत्य श्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥१४-२०॥

गुणान् एतान् यथोक्तान् अतीत्य जीवन्नेव अतिक्रम्य मायोपाधिभूतान् श्रीन् देही देहसमुद्भवान् देहोत्पत्तिशीजभूतान् जन्ममृत्युजरादुःखैः जन्म च मृत्युश्च जरा च दुःखानि च जन्ममृत्युजरादुःखानि तैः जीवन्नेव विमुक्तः सन् विद्वान् अनृतम् अश्नुते, एवं मद्भाषम् अधिगच्छति इत्यर्थः ।



अथ महाकविश्रीयुताश्वघोषविरचिते बुद्धचरिते

## सप्तमः सर्गः

वनविहारपदेशेन भार्गवस्याश्रममुपगतः सिद्धार्थदण्डकाय स्वाशयं निवेद्य  
ध्यायन्नूपधारिणा दिवौकसा दत्तं वन्यं वासः परिधायान्नाभिमुखं यथाविति आश्रम-  
वर्णनं प्रस्तौति कविः ।

ततो विसृज्याश्रुमुखं रुदन्तं छन्दं वनच्छन्दतया निरास्यः ।

सर्वार्थसिद्धौ वपुषामिभूय तमाश्रमं सिद्ध इव प्रपेदे ॥ १ ॥

ततः स्वाशयकथनानन्तरम्, रुदन्तं सिद्धार्थस्य राज्यानिःस्पृहत्वं विभाव्य  
बिलपन्तम्, अत एवाश्रमस्यमथूणि मुखे यस्य 'तम्, छन्दं तन्नामकात्ममारथिनं  
विमुञ्च्य त्यक्त्वा राजधानीं प्रति प्रस्थाप्येति यावत् । वनस्य छन्द आशयः 'अभि-  
प्रायदण्ड आशयः' इत्यमरः । तस्य भावस्वत्ता तथा वनवासामिप्रायेण । निर्गता  
मांसारिरूपदार्येभ्य आस्था आसक्तिर्यस्य स मुक्तसङ्गः । यस्मिन्नाते राजकुलस्य सर्वपा-  
मर्थानां सिद्धिर्जाता स सर्वार्थसिद्धः सिद्धः अणिमादिसिद्धिसम्पन्न इव वपुषा श्रेष्ठया-  
कृत्या 'वपुः क्लीवं तनौ शस्ताकृतावपि' इति मेदिनी । तं भार्गवस्याश्रमम् अभिभूय  
वशीकृत्य प्रपेदे प्राप्तवान् । सर्गेऽस्मिन्प्रायेणोपजातिम्, वृत्तम् विशेषन्तु तत्र तत्र वक्ष्यते ।

स राजसूनुर्मृगराजगामी मृगाजिरं तन्मृगघटप्रविष्टः ।

लक्ष्मीवियुक्तोऽपि शरीरलक्ष्म्या चक्षुषि सर्वाश्रमिणां जहार ॥ २ ॥

मृगाणां राजा मृगराजः सिद्धः स इव गच्छतीति मृगराजगामी स राजसूनुः  
राजपुत्रः सिद्धार्थः तद् गम्यमानम् मृगाजिरं मृगपराङ्गं 'अजिरं प्राङ्गे वाति' इत्यमरः ।  
मृगवत्प्रविष्टः मृग इव निर्भयः सन् प्रविष्टवान् । लक्ष्मीवियुक्तेऽपि राजलक्ष्मीर-  
हितोऽपि सिद्धार्थः शरीरलक्ष्म्या शारीरिकमौन्दर्येण करणेन सर्वेषामाश्रमिणाम् आश्रम-  
वासिनां चक्षुषि नेत्राणि दृष्टिमिति भावः जहार अहरत् चर्च्य वा ।

स्थिता हि हस्तस्ययुगास्तथैव कौतूहलाच्चक्रधराः सदाराः ।

तमिन्द्रकल्पं ददृशुर्न जग्मुर्धुर्या इवाधायिनतैः शिरोभिः ॥ ३ ॥

इत्येवु स्थिता युगा इत्याद्यज्ञानि योक्त्यादीनि येषाम् । 'युगो रथहस्तैः' इति मेदिनी । क्रियतेऽनेन कार्यमिति चक्रम् धिमणि कृपियोग्यसाधनम् । तत्कर्तुं धरन्तीति प्रकृत्याः । दारैः क्षीमिः सह वनेमानाः मदारः कृपया इति शेषः, 'मार्या जामाय पुंभूमि दाराः' इत्यमरः । कीदृङ्गुन्कीदृङ्गत् । 'कीदृङ्गुन्कीदृङ्गं च' इत्यमरः । तथैव स्वल्पानेषु स्थिता हि स्थिता एव । 'हि हेनाववधारणे' इत्यमरः । धूर्वा धूर्वाहा वृषभा इव 'धूर्वदे धूर्वधौरेयी' इत्यमरः । अर्थात्ततैः शिरोमिश्रलक्षितः तमिन्द्रक्ष्मम् इन्द्रसदसं तं सिद्धार्थं दृष्ट्वा दृष्टवन्तः जमुतं गन्तव्यमथानानि न गताः ।

विप्राश्च गत्वा यहिदिरमहेतोः प्राप्ताः समित्पुण्यपवित्रहस्ताः ।

तपःप्रधानाः कृतघ्नद्वयोऽपि तं द्रष्टुमीयुर्न मटानर्भायुः ॥४॥

तु तथा इभेहेतोः सनिदिश्वर्यम् आप्रनाद्दृष्टिगत्वा प्राप्ताः सम्मिलिताः सन्तः स्मिन्वः यज्ञाय इत्यनानि, 'इत्यनं त्वेन इत्यनेभः सनिर् भिवान्' इत्यमरः । पुण्यानि, पवित्रानि कुशाद्य 'पवित्रं तु मेधे - तामे कुंश जले' इति हेमः । इत्येषु येषाम् तस्य प्रधानं सुखं कर्म येषाम्, कृता सम्पादिता बुद्धिर्वन्ते शास्त्राभ्यासेन विशुद्धभावा आरि विप्रा ऋषयः तं यत्रतुवं द्रष्टुर्नयुः द्रष्टुं गताः । मटान् स्वनिवासस्थानानि 'मटःछत्रादिनिश्वः' इत्यमरः । नेदुर्न गताः ।

हृष्टाश्च केका मुमुक्षुर्मयूरा हृष्ट्वाभ्युदं नीलमिवोन्नमन्तः ।

शष्पाणि हित्वामिसुखाश्च तस्युमृंगाश्चलाक्षा मृगचारिणश्च ॥५॥

तु तथा नृदं नीलवर्णं सत्रलमिति भावः । अभ्युदं जलदं हृष्ट्वा विलोकयन्तु । हृष्टाः प्रसन्नाः उन्नमन्त ऊर्ध्वगता मयूराः केकिनः केकाः वचन्ति 'केका वानी मयूरस्य' इत्यमरः । मुमुक्षुस्य चकन्तः, कृन्वन्त इत्यर्थः । च तथा पुत्राणां लोकलोचना मृगा हारिणः शष्पाणि बालवृणानि 'शष्पं बालवृणं पाशः' इत्यमरः, विना त्यक्त्वा, अभिनवान्द्रष्टुः सम्मुखं स्थिताः । एवं मृगा इव चरन्तीति मृगचारिणः अन्ये पशवोऽपि तथैव तस्युः ।

तु

हृष्ट्वा तमिद्व्याकुक्कुलप्रदीपं ज्वन्तमुद्यन्तमिथांशुमन्तम् ।

छतेऽपि दोहे जनितप्रमोदाः प्रसुस्तुषुर्होमदुहश्च गायः ॥ ६ ॥

अंगवः विरगाः सन्त्यस्येति अंगुनान् सूर्यः 'अंगुनान् मासूरे रौ' इति मेदिनी द्विनित् उद्यन्तम् उदीयमानम्, उद्यन्तं अत्रिष्णुम्, इद्व्याकुक्कुलप्रदीपम् इद्व्याकुक्कुलप्रदीपकं तु सिद्धार्थं हृष्ट्वा जनितप्रमोदा सन्तश्चहरातिरेका अन्वर्थं प्रसन्नाः होमाय यज्ञाय दुहन्त इति होमदुहः गायः यज्ञेनवः दोहे कृतेऽपि दोहनक्रियायां जादावानपि प्रसुस्तुषुः प्रस्तुतव्यः प्रसादाधिक्येन दुग्धं मुमुक्षुः ।

कश्चिद्वसूनामयमष्टमः स्यात्स्यादभिनोरन्यतरदच्युतो वा ।  
उच्चैरुच्चैरिति तत्र वाचस्तद्दर्शनादिस्यजा मुनीनाम् ॥ ७ ॥

कश्चिद् इष्टप्रश्ने 'कश्चित्कामं प्रवेदने' इत्यमरः । कश्चिन् कदाचिद् अयम् एष  
राजपुत्रः, वसुनां गणदेवताविशेषाणाम् 'आदिस्व-विश्व-वसवस्तुपिताभास्वरानिलाः,  
'महाराजिकमाप्याथ रुद्राथ गणदेवता' इत्यमरः अष्टमो वसुः प्रभापात्यः स्याद्  
भवेत् । वा अथवा अश्विनोः अश्विनोऽनुनासिकदेवयोः अन्यतर एकतरः च्युतः  
पदप्रष्टः अत्र पतितो वा भवेत् तन् तस्य निद्वार्यस्य दर्शनाद् यो विलुप्तः आश्वयं  
तन्माज्ञाना उत्पन्ना इति पूर्वार्द्धेऽपि मुनीनां वाचनान् आश्रमे उच्चैः उच्चस्वरेण उच्चैः  
उच्चारणं गताः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

लेखर्पमस्येव वपुर्द्वितीयं धामेव लोकस्य चराचरस्य ।  
स द्योतयामास वनं हि कृत्स्नं यदृच्छया सूर्यं इवावतीर्णः ॥ ८ ॥

लेखेषु देवेषु क्रुद्धः श्रेष्ठ इन्द्रः 'निष्कुल्लेखर्पमः शक्रः' इत्यमरः । तस्य द्वितीय-  
मरं वसुः शरीरनिष्ठ, चराचरस्य स्थावरजङ्गमान्तरस्य लोकास्य धामेव तेन इव, 'धान  
शकौ प्रभावे च तेजोमन्दिरजन्मसु' इत्यमरः । यदृच्छया स्वेच्छया अवतीर्णः अथ  
आगतः सूर्य इव स राजपुत्रः हि निषत्तेन कृत्स्नमखिलं वनं तपोवनं द्योतयामास  
प्रकाशितवान् ।

ततः स तैराश्रमिभिर्यथावदभ्यर्चितश्चोपनिमन्त्रितश्च ।  
प्रत्यर्चयां धर्मभृतो बभूव स्वरेण साम्भोऽम्बुधरोपमेन ॥ ९ ॥

ततः राजपुत्रदर्शनत्रविस्मयानन्तरम् । तैः उच्चैः आश्रमिभिः आश्रमवानिभि-  
स्तपोधनैः उपनिमन्त्रितः मनीषणाहतः स तथा यथावद् यथोचितम् अभ्यर्चितः मन्त्रितः  
स निद्वार्यः अम्भसा जनेन सहितो योऽम्बुधरः जलधरः तदुपमेन तन्मदमेन स्वरेण  
गर्भरया स्निग्धया च वाचा तपोधनानां मत्कारं स्वीकृत्य धर्मभृतः धर्मान्तः  
तान्प्रोधयान् प्रत्यर्चयामि इति प्रतीकृतवान् ।

कीर्णं तथा पुण्यकृता जनेन स्वर्गाभिकामेन विमोक्षकामः ।  
तमाश्रमं सोऽनुचचार धीरस्तपांसि चित्रापि निरीक्षमाणः ॥ १० ॥

विमुक्तः कीर्णः जन्मजरान्महादिभ्य इति मारः कानः यस्य, चित्रापि अद्-  
भुक्तानि 'विमोक्षोऽनुकृताश्रमं चित्रमपि' इत्यमरः । तस्मात्ते शूचान्द्रायणादीनि  
निरीक्षमाणः मन्थरं पश्यन् धीरः धर्मवान् स राजपुत्रः स्वर्गाय अनिष्टः कानः इच्छा

यस्य तेन स्वर्गं गन्तुर्नामेन पुष्पं करोतीति पुष्पकृतं तेन तपः कुर्वता जनेन तपस्वि-  
 वर्येण जानावेकरचनमित्येकवचनम् । कीर्त्तं ध्यातं तनाधनमनुचचार तैराधमवाशिभिः  
 सह कृत्वा । 'अनु हीने सहायं च' इति विश्वः ।

तपोविकारांश्च निरीक्ष्य सौम्यस्तपोवने तत्र तपोधनानाम् ।

सपस्विनं कंचिदनुग्रजन्तं तत्त्वं विजिज्ञासुरिवं यभाषे ॥६१॥

तत्र तपोवने तस्मिन्नाधने तपोधनानां तपस्विनां तपोविकारात् तपसः परिणानात्  
 'परिणामो विकारो द्वे' इत्यमरः । निरीक्ष्य सम्भृत् विलोक्य सौम्यः साधुः सिद्धार्थः  
 तत्त्वं सत्यं परमात्मानं वा 'तत्त्वं परमात्मानि । वाद्यभेदे स्वरूपे च' इति हेमः ।  
 विजिज्ञासुः विशेषेण ज्ञातुमिच्छुः कंचित्कमपि अनुग्रजन्तम् अनुग्रहन्तं तपस्विनं  
 यभाषे उक्तवान् पृष्टवानिति भावः ।

तत्पूर्वमघाधमदर्शनं मे यस्मादिमं धर्मविधिं न जाने ।

तस्माद्भवानर्हति भाषितुं मे यो निश्चयो यत्प्रति चः प्रयुक्तः ॥६२॥

तद् आधनदर्शनं मे मम अद्य पूर्वं प्रथमवारं ज्ञातमिते शेषः । यस्मात् यतः  
 धारणाद्, इमं धर्मविधिं धर्मानुष्ठानं न जाने नहि जानामि । तस्माद्, वः पुष्पाकं यः  
 निश्चयः विश्वासः सिद्धान्तो वास्ति स निश्चयो यत्प्रति यदर्थं प्रयुक्तः प्रारब्धः ( तत्सर्वं )  
 मन्वान् मे मत्वं भाषितुं कथयितुमर्हति योग्योऽधिकारी वर्तते । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

ततो द्विजातिः स तपोविहारः शाक्यर्षभायार्षभविक्रमाय ।

क्रमेण तस्मै कथयांचकार तपोविशेषांस्तपसः फलं च ॥६३॥

ततः प्रथमधरणानन्तरं स अनुग्रजत् । द्वे जाते जन्मनी यस्य स द्विजन्मा ।  
 तथा च मनुः—'मातुरमेधि-(वि)-जननं द्वितीयं नीञ्जिवन्धनम्' इति । तपोविहारः  
 तत्र एव विहारः परिक्रमः श्रीदार्थसम्भरणमिति भावः । यस्य, स तपस्वी । ऋषभस्य  
 वृषभस्य 'ऋषभो वृषभो वृषः' इत्यमरः । इव विक्रमः अतिपराक्रमः क्रान्तिर्वा  
 यस्य 'विक्रमस्त्वतिशक्तिः' । 'क्रान्ती विक्रमः' इत्यमरः । तस्मै । शाक्येषु शाक्य-  
 वंशेषु ऋषभाय श्रेष्ठाय 'स्युरत्तरपदे व्याघ्रपुंगवर्षभमुज्जराः । सिंहसार्द्धलनागायाः  
 पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः' इत्यमरः । सिद्धार्थाय क्रमेण तपोविशेषान् तपसो भेदान् तपस-  
 फलं च कथयांचकार कथयामास ।

यथागमं वृत्तिरियं मुनीनां भिक्षास्तु ते ते तपसां विक्रमाः ॥६४॥

यथागमं वृत्तिरियं मुनीनां भिक्षास्तु ते ते तपसां विक्रमाः ॥६४॥

ग्रामे सर्वं ग्राम्यम् 'ग्रामाचरुर्मा' इति यत्प्रत्ययः । न ग्राम्यम् अग्राम्यं वन्यं नीवारदयामाकादि अन्नम्, सलिले अले प्रहृष्टमुत्पन्नं किञ्चिद्भोज्यम्, पर्गानि तरुलतादि-  
पर्गानि तरुलतादिपर्गानि, 'पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्' इत्यमरः । तौर्यं  
पानीयम् 'अम्मोर्णस्योपानीय' इत्यमरः । फुल्लमूलमेव फलानि मूलानि च एव  
एतेषु पर्यायेणैकमेवेति भावः मुनीनामियं मयोक्ता मयागमं शास्त्रानुसारं यथा स्यात्तथा  
वृत्तिः जीवनोपायोऽस्तीति शेषः । तपसां कृच्छ्रचान्द्रायणादीनां ते ते विकल्प्याः प्रचारा  
भिन्नास्तु भिन्ना एव मन्तीति शेषः ।

“उच्छेन जीवन्ति खगा इवान्ये तृणानि केचिन्मृगवच्चरन्ति ।  
केचिद्भुजङ्गः सहै वर्तयन्ति वल्मीकभृता वनमारुतेन ॥१५॥

अन्ये तापसाः खगाः पक्षिण इव उच्छेन खलादिपतितधान्यस्य कणस्य  
आदानेन जीवन्ति 'उच्छः कणस्य आदानम्' इत्यमरः । केचित् मृगवत् मृगा इव  
तृणानि घासं चरन्ति भक्षयन्ति । केचिदपरे वल्मीकभृताः पिपीलिकादिनिष्क्रासित-  
मृदुभृताः, भुजङ्गैः सह सैः सार्धम् वनमारुतेन वन्यवायुना वर्तयन्ति जीवन्ति ।

“अदमप्रयत्नार्जितवृत्तयोऽन्ये केचित्स्वदन्तापहताश्चभक्षाः ।  
कृत्वा परार्थं धृपणं तथान्ये कुर्वन्ति कार्यं यदि शेषमस्ति ॥१६॥

अन्ये तापसा अस्मनः प्रयत्नेन उपायभूतेन उपाजिता सम्पादिता वृत्तिः  
जीवनोपायः येषां तथाभूताः, केचित् स्वदन्तैः यत् सुशलादिसाधनैः अपदृतं तुषेभ्यः  
पृषद् कृतं कृष्टितं पिष्टं वा अन्नं भक्षयन्तीति तथाविधाः वर्तन्ते इति शेषः । अन्ये  
केचन परार्थम् अन्येभ्यः नत्वात्मने ध्रुगं पाकं कृत्वा यदि तत्र तस्मिन् पाके शेष-  
मस्ति किञ्चिदवाशिष्यते तदा तेनाशिष्येन स्वयं कुर्वन्ति स्वभोजनादि कार्यं  
सम्पादयन्तीति भावः । इन्द्रवज्रावृत्तम् ।

“केचिज्जलक्लिन्नजटाकलापा द्विः पावकं जुहुति मन्त्रपूर्वम् ।  
मीनैः समं केचिदपोवगाह्य वसन्ति कूर्मोह्लिखितैः शरीरैः ॥१७॥

जलेन क्लिन्ना आद्रां जलानां संश्लिष्टकेशानां जलापाः समूहा येषां तथाभूताः  
केचिज्जलक्लिन्नजटाकलापा द्विः द्विवारं प्रातः सायं पावकं जुहुति  
यत्तं कुर्वन्ति इति कलितार्थः । केचिद् अग्रे जलानि विंग्राह्य अवगाह्य जले निर्जीनाः  
वसन्ति इति भावः, कूर्माणां कच्छानां संघर्षेणोह्लिखितैः चिद्धितैः शरीरैरुपलक्षिताः  
मीनैः मन्थ्यैः समं सह वसन्ति ।

एवंविधैः कालचितैस्तपोभिः परैर्दिवं यान्त्यपरैर्नृलोकम् ।  
दुःखेन मार्गेण सखं ह्युपति सुखं हि धर्मस्य वदन्ति मूलम् ॥१८॥

कालचितैः दीर्घकालमार्गितैः एवंविधैः देवैः परैः उत्तमैर्विशेषस्तपोभिः नियमैः  
करणैः दिव्यं स्वर्गं प्राप्ति इति शेषः, अपरैः साधारणैः तपोभिः नृलोकं नरलोकं मनु-  
लोकं याति नम्यन्ते । दुःखेन कष्टकरेण मार्गेण विधिना लोकेः सुखम् उपति प्राप्नोति  
इति यतः सुखं धर्मस्य मूलमस्तीति वदन्ति बुद्धिमन्तः ।

इत्येवमादि द्विपदेन्द्रवत्सः श्रुत्वा वचस्तस्य तपोधनस्य ।  
अदृष्टत्स्योऽपि न सन्तुतोऽशनैरिदं चात्मगतं वभाषे ॥१९॥

तस्य उक्तस्य तपोधनस्य इत्येवमादि इत्यादि वचः वचनं श्रुत्वा न दृष्टं  
सन्तुष्टः तस्य परमात्मा सखं वा येन तथाभूतोऽपि स द्विपदाना मनुष्याणाम् इन्द्रः  
राजा तस्य वत्सः नरेन्द्रपुत्रः न सन्तुतोऽपि सन्तुष्टो जाभूत् । च तथा इदं वक्ष्यमाणम्  
आत्मगतम् मनसि । शनैः वभाषे उक्तवान् विचारयामासेति भावः ।

दुःखात्मकं नैकविधं तपश्च स्वर्गप्रधानं तपसः फलं च ।  
लोकाश्च सर्वे परिणामवन्तः स्वल्पे श्रमः खल्वयमाश्रमाणाम् ॥२०॥

तपश्च किं कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपोऽनुष्ठानम् न एका विधा प्रसरो यस्य  
तथाविधमनेकविधं, दुःखात्मकं दुःखप्रदं—वास्तीति शेषः । तपसः फले च स्वर्गो  
प्रधानं सुखानया स्वर्गप्राप्तिरिति भावः । च तथा सर्वे लोकाः परिणामवन्तः विचारिणः  
'परिणामो विहारो द्वे' इत्यमरः । परिवर्तनशीलाः सन्ति । 'आत्रेणमुवनाशोकाः  
पुनरावर्तिनोऽजुन' इति गीता ( ८-१६ ) । (अतः) आश्रमाणामाश्रवासिनाम् अर्थं  
तपोनुष्ठानस्थः धर्मः प्रयत्नः स्वल्पे यत्नं स्वर्गादिलोकप्राप्तिरुपात्यल्पकालाय एव ।  
इन्द्रवज्राख्यं वृत्तम् ।

प्रियांश्च बन्धुन् विपयांश्च हित्वा ये स्वर्गहेतोर्नियमं चरन्ति ।  
ते विप्रयुक्ताः खलु गन्तुकामा महत्तरं बन्धनमेव भूयः ॥२१॥

प्रियान् बन्धुन् विपयान् स्परमादींश्च हित्वा त्यक्त्वा ये जनाः स्वर्गहेतोः  
स्वर्गप्राप्त्यर्थं नियमं चरन्ति तपः कुर्वन्ति ते विप्रयुक्ता वदिता भूयः पुनः महत्तरम्  
अनिमहत् बन्धनं जन्मरूपं खलु निश्चयं गन्तुकामाः गन्तुमिच्छन्ति । 'ते तं मुक्त्वा  
स्वर्गलोकं विशालं धांगे पुष्ये मन्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयीवर्ममनुप्रपश्वा गतागतौ  
कामदामा लभन्ते' इति गीता धृतिरार्षि—'ति ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परमनाः  
परिसुच्यन्ति सर्वे ।'

‘कायङ्गमैयश्च तपोऽभिधानैः प्रवृत्तिमाकाङ्क्षति कामहेतोः ।  
संसारदोषानपरीक्षमाणो दुःखेन सोऽन्विच्छति दुःखमेव ॥२२॥

तपः अभिधानं नाम येषां तैस्तपोनामकैः कायङ्गमैः शरीरपीडनैः, यः नरः कामानां भोगैश्वर्यादिभिलाषाणां हेतोः कारणात् ‘कामः स्मरेच्छब्दोः पुमान्’ इति मेदिनी । प्रवृत्तिं प्रवाहं ‘प्रवृत्तिवृत्तवृत्तान्तप्रवाहेषु प्रवर्तने’ इति हैमः । जन्मरूपम् आकाङ्क्षति इच्छति स नरः संसारदोषान् संसारसम्बन्धीनि रागद्वेषादिदूषणानि अपरीक्षमाणः न सम्यग् आलोचयन् दुःखेन कायक्लेशेन दुःखमेव जन्म मरणरूपं दुःखमेव अन्विच्छति मार्गयति । यतः—‘भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् । व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते । किञ्च, नास्ति बुद्धिर्युक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्’ इति भगवद्गीता ।

‘त्रासश्च नित्यं मरणात्प्रजानां यत्नेन चेच्छन्ति पुनः प्रसृतिम् ।  
सत्यां प्रवृत्तौ नियतश्च मृत्युस्तत्रैव मग्ना यत एव भीताः ॥२३॥

इ अथ च प्रजानां लोकानां मरणात् मृत्यो नित्यं सर्वदा त्रासः भयं विद्यत इति शेषः । च किञ्च लोका यत्नेन तपोऽनुष्ठानरूपोपायेन पुनः प्रसृतिं प्रसवं जन्म वा ‘प्रसृतिः प्रसेवे’ इत्यमरः । इच्छन्ति । प्रवृत्तौ सत्यां प्रवाहे वर्तमाने मृत्युः नियतः अपरिहार्यः निश्चितः । ‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च’ इति भगवद्गीता । यतः यस्माद् भीताः प्रस्तास्तत्रैव मग्ना लीना इति महदाश्चर्यम् श्रोत्यतेऽत्र । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

‘इहाथमेकं प्रविशन्ति खेदं स्वर्गार्थमन्ये ध्रममाप्नुवन्ति ।  
सुखार्थमाशारूपणोऽकृतार्थः पतत्यनर्थे खलु जीवलोकः ॥२४॥

एके केचिद् इहाथं एतस्मै लोकाय खेदं दुःखं कायक्लेशरूपं प्रविशन्ति गच्छन्ति । अन्येऽपरे स्वर्गार्थं स्वर्गप्राप्त्यर्थं ध्रमं तपोऽनुष्ठानप्रयत्नम् आप्नुवन्ति अधिगच्छन्ति । (एवं) आशारूपणः आशा दीना हीना वा यस्य स आशादीनः जीवलोकः न कृतः साधितम् अर्थः प्रयोजनं येन स असफलः सन् प्रीतिः अर्थः प्रयोजनं यस्य तस्मिन् अनर्थे पतति । सुखमन्विच्छन् अनन्तदुःखे पततीत्यनर्थः ‘स शान्तिमाप्नोति न कामकामी’ ‘अन्तवन्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पनेधसाम्’ इति च भगवद्गीता ।

‘न खल्वयं गर्हित एव यत्नो यो हीनमुत्सृज्य विशेषगामी ।  
प्राज्ञैः समानेन परिश्रमेण कार्यं तु तद्यत्र पुनर्न कार्यम् ॥२५॥

अनु निधयेन अयम् अत्र क्रियमाणः यत्रः तपोनुष्ठानरूपोपायः, यः हीनं निरुद्धम् उरुमुख्यं त्यक्त्वा विशेषप्रसाधारणं स्वर्गादिकलं गन्तुं शीलमस्यास्तीति तथाभूतः गर्हित एव न निन्दितो नैव । तु किन्तु प्राज्ञैः बुद्धिमद्भिः उल्लेखेन परापर-योर्भेदं त्यक्त्वा सदृशेन परिश्रमेण प्रयत्नेन तत्कार्यं कर्तुमुचितं यत्र यस्मिन् कृते पुनः न कार्यं कर्तुमवशिष्येत विमपीति शेषः ।

शरीरपीडा तु यदीह धर्मः सुखं शरीरस्य भवत्यधर्मः ।

धर्मेण चामोति सुखं परत्र तस्मादधर्मं फलतीह धर्मः ॥२६॥

यदि पदान्तरे 'पदान्तरे चेद्यदि च' इत्यमरः । इह अत्र लोके शरीरपीडा चान्द्रायणादिभिः शरीरपीडनं धर्मः । शरीरस्य सुखम् अधर्मः पापं भवति, च तथा धर्मेण परत्र परलोके सुखं (नरः) आप्नोति लभते, तस्मान् तदा इह अस्मिन् निधये सति धर्मः शरीरपीडारूपः अधर्मं परलोके सुखरूपं फलति जनयति । धर्मोऽधर्मं फलभावेन परिवर्तते इति भावः, अतोऽयं विचारो न समीचीनः ॥

यतः शरीरं मनसो घशेन प्रवर्तते चापि निवर्तते च ।

युक्तो दमदचेतस एव तस्माच्चित्ताहते काष्ठसमं शरीरम् ॥२७॥

यतः शरीरं मनसो वशेन मनसः प्रेरणया प्रवर्तते विषयेषु प्रवृत्तिं करोति च तथा निवर्ततेऽपि निवृत्तिमपि गच्छति, तस्माद्देतोः चेतसुः मनसः दमः दमनं वशीकरणमेव युक्तम् उचितम् न तु शरीरस्येति भावः । (यतः) चित्ताहते चित्तं विना शरीरं काष्ठसमं शुष्कं निर्वृष्टं चेत्यर्थः, तदुक्तम्—'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चल-मस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदारमन्येव वशं नयेत्' इति यौ. (६-२१) 'एवञ्च मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इति ।

आहारशुद्ध्या यदि पुण्यमिष्टं तस्मान्मृगाणामपि पुण्यमस्ति ।

ये चापि याहाः पुरुषाः फलेभ्यो भाग्यापराधेन पराङ्मुखाः ॥२८॥

यदि चेद् आहारस्य भोजनस्य शुद्ध्या पवित्रतया शुद्धभोजनकरणेनेति भावः पुण्यं धर्मप्राप्तिः इष्टम् मता तस्मान् तदा मृगाणामपि हरिणादिपशूनामपि पुण्यमस्ति तेऽपि पुण्यवतः पवित्रभोजनकरणात् । अपि च मे साधकाः फलेभ्यो भाग्याः फलाहारमपि त्यक्तवन्तः यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् ते भाग्यापराधेन भाग्यदोषेण दौर्मर्ग्येण वा पराङ् प्रत्यावृत्तं सुखम् अर्थेभ्यो येषां ते उद्देश्यविमुखाः गन्तीति शेषः । इन्द्रवज्राख्यं वृत्तम् ।



दुःखेऽभिसन्धिस्त्वथ पुण्यहेतुः सुखेऽपि कार्यो ननु सोऽभिसन्धिः ।  
मथ प्रमाणं न सुखेऽभिसन्धिर्दुःखे प्रमाणं ननु नाभिसन्धिः ॥२६॥

अथानन्तरं दुःखे शरीरपीडने अभिसन्धिस्तु पक्षपात एव पुण्यहेतुः अपवा  
दुःखं पुण्यवद् इत्यादिपक्षकथनमेव धर्मकारणम्, ननु निश्चयेन स उक्तः अभिसन्धिः  
पक्षपातः पक्षकथनं वा सुखेऽपि कार्यः कर्तुमुचितः । अथ चेत् सुखेऽभिसन्धिः प्रमाणं  
प्रमाणपुष्टं युक्तियुक्तं वा यथा स्यात्तथा न तदा दुःखेऽभिसन्धिः प्रमाणं न ननु नैव ।

तथैव ये कर्मविशुद्धिहेतोः स्पृशन्त्यपस्तीर्थमिति प्रवृत्ताः ।

तत्रापि तोषो हृदि केवलोऽयं न पावयिष्यन्ति हि पापमापः ॥३०॥

तथैव एवमेव जनाः तीर्थं पवित्रस्थानं विद्यते इत्यनया भावनया प्रवृत्ताः प्रेरिताः  
कर्मणां विशुद्धिहेतोः विशेषेण पवित्रतासम्पादनाय अपस्तीर्थजलानि स्पृशन्ति पिबन्ति  
अवगाहन्ते वा तत्रापि एवमाचरणेऽपि हृदि हृदये केवलः अयं तोषः एकैषा  
नुष्टिर्यत् कर्मविशुद्धिर्जाता । वस्तुतस्त्वावदेवं कापि शुद्धिर्न भवति यावन्मनः शुद्धं  
नास्ति मनसि शुद्धे तु तीर्थेन किम् । तथाच 'शुचि मनो यशस्ति तीर्थेन किम्'  
इति । हि यस्मान् पापं पापिनं पुरुषं दुष्कर्म वा आरो जलानि न पावयिष्यन्ति  
पवित्रतां न नेष्यन्ति ।

स्पृष्टं हि यद्यद् गुणवद्भिरम्भस्तत्तत्पृथिव्यां यदि तीर्थमिष्टम् ।

तस्माद् गुणानेव परैमि तीर्थमापस्तु निःसंशयमाप एव ॥३१॥

अदि चेत् पृथिव्यां यद्यद् हि यद्यदेव अम्भः जलं गुणवद्भिः गुणिभिर्महात्मभिः  
स्पृष्टं स्पर्शेन पवित्रितं तत्तत् तीर्थमिष्टम् तीर्थं मतम् तस्माद् गुणानेव तीर्थं परैमि  
गुणा एव उत्तमं तीर्थमिति मन्ये आपस्तु जलानि तु निःसंशयं निःसन्देहम् सामान्य-  
जलानि न तु किञ्चिद्विशिष्टं तत्र विद्यते । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

इति स तत्तद्यद्बहुयुक्तियुक्तं जगद् चास्तं च ययौ विवस्वान् ।

ततो हविर्धूमविघर्णवृक्षं तपःप्रशान्तं स वनं विवेश ॥३२॥

इति अनेन प्रकारेण तत्तद् दुःखात्मकमित्याप्येकदश श्लोकेषु बह्वुक्तियुक्तमनेक-  
तर्कममृतं स जगद् स उवाच । विवस्वान् सूर्यश्चास्तं ययौ गतः । ततस्तदनन्तरं स  
सिद्धार्थः । हविषो हवनोपपदार्यानां घृतादीनां धुमेन विरुद्धो वर्णो रामो येषां ते  
हविर्धूमधूसरितवर्णाः वृक्षाः यत्र, तपसा प्रज्ञान्तमतिशान्तम् वनं तपोवनं विवेश  
प्राविशान् । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

<sup>अभि</sup>अभ्युद्धतप्रज्वलिताग्निहोत्रं कृताभिषेकार्पिजनाचकीर्णम् ।

जाप्यस्वनाकूजितदेवकोष्ठं धर्मस्य कर्मान्तमिव प्रवृत्तम् ॥३३॥

अभितः सर्वतः उद्भूतसुरिक्षितं प्रज्वलितं प्रदीप्तं च अग्निहोत्रं मन्त्रपूर्वकं स्थापितामौ हुतं यत्र, अथवा उद्भूतः प्रदीप्तश्च अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निः यत्र । कृतः अभिषेकः शास्त्रविधिना मन्त्रपूर्वकरूपानं यैस्तैः ऋषिजनैर्मुनिभिरवकीर्णम् ध्यातम्, जाप्यानां जपयोग्यमन्त्राणां स्वप्नेन मधुरध्वनिना आसमन्तात् कृत्रिताः प्रतिध्वनिपूर्णाः देवानां ह्येष्टा गृहमध्यभागाः 'कोष्ठः कुसूले चात्मीये मध्ये कुशेशुहस्य च' इति मेदिनी । यत्र धर्मस्य सुकृतस्य कर्मान्तामिव कार्यपूर्तिश्चेन्नमिव प्रवृत्तं किन्तु सुविवेचिते पूर्वेण श्लोकेन सम्बन्धः ।

काञ्चिद्विद्वास्तत्र निशाकराभः परीक्षमाणश्च तपांस्युयात् ।

सर्वं परिक्षेप्य-तपश्च मत्वा तस्मात्तपःक्षेत्रतल्लज्जगाम ॥३४॥

निशाकरस्य चन्द्रस्य आभाः कान्तिरिव आभा यस्य स रूपलावण्यसम्पन्नः स्वार्थसिद्धः तपांसि नियमान् परीक्षमाणः समीक्षमाणः काञ्चिद् निशा रात्रीः तत्र तपोवने उवाच तस्यौ । सां तपः परिक्षेप्य सर्वविधं तपः बन्धनयुक्तमभारं च मत्वा ज्ञात्वा तस्मात्तपः क्षेत्रतल्लज्जगाम निर्वयौ । 'परिक्षेप्य' पदस्य प्रकरणा-नुसारी अर्थः प्रदर्शितः परिक्षेप्येत्ययं पाठो भ्रष्टः प्रतीयते, यतो ह्यन्वयसहृतिर्न भवति । विशेषन्तु मनीषिभिः स्वयं विचारणीयम् ।

अन्वज्जन्नाश्रमिणस्ततस्तं तद्रूपिहात्म्यगतैर्मनोभिः ।

देशादनायैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिषापयान्तम् ॥३५॥

अनावैः दुष्टैः अभिभूयमानान् पराभवं नीयमानान् देशान् अपयान्तं गच्छन्तं धर्मं महर्षय इव ततः तपोवनाभिर्गमनानन्तरं तत् तस्य रूपस्य प्रशस्ताकृतेः माहात्म्यगतैः प्रशंसापत्रैः प्रशंसद्भिः मनोभिर्दण्डिताः आश्रमिणस्तैः सिद्धार्थम् अन्वज्जन्तु अनुगतवन्तः ।

ततो जटावस्त्रकलचीरखेलांस्तपोधनांदर्शय स तान्ददर्श ।

तपांसि चैषांशुबुद्धयमानस्तस्यौ शिवे श्रीमति पृक्षमूले ॥३६॥

ततः स, सिद्धार्थः जटा, वस्त्राणि, चीराणि च खेलां श्रीमते मनोविनोदः वा येषां तान् तपोधनान् एषां तपांसि चैव ददर्श दृष्टवान् । अनुबुद्धयमान आश्रमिभिः साग्रहं प्रार्थ्यमानः शिवे शुभे महलरूपे वा 'श्वःश्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्' इत्यमरः । श्रीमति शोभायुक्तं पृक्षमूले तस्यै स्थितिं चकार ।

अथोपसृत्याश्रमवासिनस्तं मनुष्यवर्षे परिवार्य तस्युः । ३८  
 वृद्धश्च तेषां बहुमानपूर्वं कलेन साम्ना गिरिमित्युवाच ॥३७॥

अथ वृद्धमूलस्थित्यनन्तरम् आश्रमवासिनः तं मनुष्यवर्षं मनुष्यधेठम् उपसृत्य  
 समीपं गत्वा परिवार्य परितः सर्वतः कृत्वा तस्य स्थिताः । च तथा तेषां कोऽपि  
 वृद्धस्तपस्वी बहुमानपूर्वम् अतिमम्माम्नेन शान्ना शान्त्या कृत्वेन मधुरस्वरेण इति  
 वक्ष्यमाणं गिरमवाच वाचमुक्तवान् ।

“त्वय्यागते पूर्ण इवाश्रमोऽभूत्संपद्यते शून्य इव प्रयाते ।

तस्माद्भिमं नार्हसि तात हातुं जिजीविषोर्देहमिवेष्टमायुः ॥३८॥

त्वयि मिद्वार्ये आगतेऽत्र प्राप्ते आश्रमः पूर्ण इवाभूत् प्रयाते गते सति त्वयि  
 शून्यः रिक्त इव सम्पद्यते जायते । तस्मात् द्वे तात प्रिय जिजीविषोः जीवितुमिच्छोः  
 इष्टं देहं प्रियं शरीरं आयुः जीवनकाल इव इममाश्रमं हातुं त्यक्तुं नार्हसि उचितं नास्ति ।

“ब्रह्मर्षिराजर्षिसुरर्षिजुष्टः पुण्यः समीपं हिमवान् हि शैलः ।

तपांसि तान्येव तपोधनानां यत्सन्निकर्षाद्बहुलीभवन्ति ॥३९॥

ब्रह्मर्षिभिः वसिष्ठमहर्षेः राजर्षिभिः विश्वामित्रकल्पैः, सुरर्षिभिः नारदानुरूपैः,  
 जुष्टः सेवितः पुण्यः पुनः हिमवान् हिमालयः शैलः पर्वतः समीपे हि समीपमेव  
 विद्यते इति शेषः । सन्निकर्षाद् यस्य समीप्यान् तपोधनानां तान्येव उक्तान्येव  
 तपांसि बहुलीभवन्ति बहुलतां प्राप्नुवन्ति ।

“तीर्थानि पुण्यान्यमितस्तथैव सोपानभूतानि नभस्तलस्य ।

जुष्टानि धर्मात्मभिरात्मविद्भिर्देवर्षिभिश्चैव महर्षिभिश्च ॥४०॥

तथैव एवमेव धर्मात्मभिः आत्मविद्भिः आत्मज्ञानिभिः देवर्षिभिः महर्षिभिः  
 उ जुष्टानि सेवितानि, नभस्तलस्य ध्योम्नः स्वर्गस्येति यावत् सोपानभूतानि  
 आरोहणमार्गरूपाणि पुण्यानि पवित्राणि तीर्थानि ‘हिमालयम्’ अभितुः सर्वतः सन्तीति  
 शेषः । इन्द्रवज्राख्यं वृत्तम् ।

“इतश्च भूयः क्षममुत्तरैश्च दिक्सेवितुं धर्मविशेषहेतोः ।

न तु क्षमं दक्षिणतो बुधेन पदं भवेदेकमपि प्रयातुम् ॥४१॥

इन्द्र अम्मास्थानाद्य भूयः पुनः धर्मविशेषहेतोः निवृत्तिफलकविशेषधर्मा-  
 वुप्यनाय उत्तरै दिक् सेवितुं क्षमम् उत्तरदिशायामेव गमनं युक्तम् ‘युक्ते क्षमं शक्ते  
 हिते त्रिपु’ इत्यमरः । शुक्ला गतिरेव प्रायेति बुधेन बुद्धिमता दक्षिणतः एकपदमपि  
 प्रयातुं क्षमं न तु भवेत् । दक्षिणमार्गेण एकं पदमपि बुद्धिमता गन्तुं युक्तं नैव भवेत्

कृष्णा गतिः त्याज्येति भावः । तदुक्तं भगवद्गीतायाम्—‘शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगत-  
शाश्वने मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ।’ एतयोर्द्वयोर्गतयोरेवात्रोद्देश  
इति प्रतीयते ।

‘तपोचनेऽस्मिन्नथ निष्क्रियो वा संकीर्णधर्मापतितोऽशुचिर्वा ।

दृष्टस्त्वया येन न ते विवत्सा तद् ब्रूहि यावदुचितोऽस्तु वासः ॥४२॥

अथ प्रश्ने ‘मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ’ इत्यमरः, किमस्मिस्तपोचने  
त्वया कथितं सोऽपि निष्क्रियः अकर्मण्यः, संकीर्णं क्षुद्रे धर्मं आपतितः सर्वधामप्रः,  
अथवा अशुचिः अपवित्रः दृष्टः ? येन कारणेन ते तव अत्र विवत्सा वस्तुमिच्छा  
न अस्तीति शेषः । तत् तस्माद् ब्रूहि कथय यावत् कालं वाग्यः अत्र स्थितिः इचितः  
रुचिकरा अस्तु भवतु तवेति शेषः ।

‘इमे हि वाञ्छन्ति तपःसहायं तपोनिधानप्रतिमं भवन्तम् ।

वासस्त्वया हीन्द्रसमेन सार्धं बृहस्पतेरभ्युदयावहः स्यात् ॥४३॥

हि निश्चयेन इमे त्वां परिवार्धं स्थिताः तापसास्तपस्विनः तपोनिधानप्रतिमं  
तपोनिधिर्त्वां तपःसहायं तपसि आत्ममहचरं वाञ्छन्ति इच्छन्ति । त्वमपि एभिः  
सह तपः पुत्र्या इत्येवामिच्छसि, हि यतः इन्द्रसमेन इन्द्रसदृशेन त्वया सार्धं मह वासः  
बृहस्पतेः देवपुरोः अपि अभ्युदयम् आवहति आनयति तथाभूतः भाग्योदयकारकः  
अत्र सुचिकृष्णाभ्युदयप्रारकः स्वाङ्गवेत् । येन सह वासो देवपुरोरप्यभ्युदयावहः  
स्यादन्वेषान्तु कथं नेति भावः ।

इत्येवमुक्तः स तपस्विमध्ये तपस्विमुख्येन मनीषिमुख्यः ।

भवप्रणाशाय कृतप्रतिज्ञः सं भवमन्तर्गतमाचचक्षे ॥४४॥

तपस्विमध्ये तापसानां समक्षं तपस्विमुख्येन तपस्विनां मुख्येन प्रधानेन इत्येवम्  
उक्तप्रकारेण उक्ते कथिते ( सति ) भवस्य जन्मनः ‘भवः क्षेमेशसंनारे सत्तायां  
प्रातिजन्मनोः’ इति मेदिनी । प्रणाशाय प्रकर्षेण नाशाय कृता प्रतिज्ञा येन स कृत-  
मङ्गल्यः मनीषिषु धीरेषु प्रज्ञेषु वा ‘धीरो मनीषी ज्ञः प्रज्ञः’ इत्यमरः । मुख्यः श्रेष्ठः  
स सर्वार्थासिद्धः स्वमात्मनः अन्तर्गतं ह्यस्त्वं भावमाशायं आचचक्षे कथयामास ।

‘अज्यात्मनां धर्मभृतां मुनीनामिष्टातिथित्वात्स्वजनोपमानाम् ।

पंचविधैर्मां प्रति भावजातैः प्रीतिः परा भे जनितश्च मानः ॥४५॥

ऋजुः सरलः आत्मा येषां तथाभूतानां धर्मभृतां धर्मपालकानाम् इष्टातिथित्वात्  
प्रियातिथिभावान् स्वजनोपमानाम् आत्मीयकल्पानां मुनीनां मां प्रति मद्रिपदे एवंविधैः

उक्तं भावजातेः भावगमूहैः 'जातं जात्योषजन्ममु' इत्यमरः । मे मम परा महती  
श्रीतिः अनुराक्तः जनिता तु तथा परः मानः जनितः उत्पादितः । इन्द्रवज्राख्यं वृत्तम् ।

स्निग्धप्रसिराभिर्हृदयंगमाभिः समासतः स्नात इवास्मि वाग्भिः ।

रतिश्च मे धमनचग्रहस्य विस्पन्दिता सम्प्रति भूय एव ॥४६॥

समासतः संज्ञेयतः स्निग्धाभिः स्नेहपूर्णैः अतएव हृदयंगमाभिः हृदयस्पर्शिभिः

आभिः युष्मदुचरितैः वाग्भिः वचोभिः स्नात इव पवित्रीकृत इवास्मीति भावः । च

तथा मे मम धर्मे नवः नूतनः यः ग्रहः अनुरोधः तस्य रतिः अभिर्चिः सम्प्रति अपुना

भूय एव पुनरपि विस्पन्दिता सञ्चालिता उद्बोधितेति भावः । तथास्विनां स्नेहसिक्त-

व्यवहारेण वचनैश्चाधुना सिद्धार्थस्य मुक्तयेऽभिलाषोऽत्यर्थमुद्बुद्धः इत्याशयः ।

एवं प्रवृत्तान् भवतः शरण्यानतीव सन्दर्शितपक्षपातान् ।

यास्यामि हित्वेति ममापि दुःखं यथैव बन्धूंस्त्यजतस्तथैव ॥४७॥

एवम् इत्थं प्रकृष्टं वृत्तं चरित्रं येषां तान् प्रवृत्तान् 'वृत्तं पथे चरित्रे' इत्यमरः ।

अतीव अत्यर्थं समु सम्यग् दर्शितः प्रकटितः पक्षपातः प्रेमातिशयः यैस्तान्, शरण्या

साधून् शरण्यान् शरणयोग्यान् भवतः हित्वा त्यक्त्वा यास्यामि गमिष्यामीति अनेन

विचारेण ममापि तथैव तादृशमेव दुःखं भवतीति शेषः, यथैव बन्धून् बान्धवान्

त्यजतः ।

एवं सति किमर्थं भवानत्र न तिष्ठतीति तदाहाप्रिमश्लोकद्वयेन—

स्वर्गाय युष्माकमर्थं तु धर्मो ममाभिलाषस्त्वपुनर्मवाय ।

अस्मिन्वने येन न मे विवर्त्सा भिन्नः प्रवृत्त्या हि निवृत्तिधर्मः ॥४८॥

युष्माकम् अर्थं तपोनुष्ठानरूपो धर्मः तु स्वर्गाय स्वर्गप्राप्त्यर्थं, ममाभिलाषस्तु

ममेच्छा तु अपुनर्मवाय भवत्प्रणशाय मुक्तये वा इत्यर्थं महान् भेदः यो मे मम

आस्मिन्वने विवर्त्सा वस्तुमिच्छा न नास्तीति शेषः । हि यतः निवृत्तिधर्मः मोक्षधर्मः

प्रवृत्त्या सकामधर्माद् भिन्नः अस्तीति शेषः ।

तद्भारतिर्मे न परापचारो वनादितो येन परिग्रजामि ।

धर्मे स्थिताः पूर्वयुगानुरूपे सर्वे भवन्तो हि महर्षिकल्पाः ॥४९॥

येन इतो वनाद् अस्माद् वनान् परिग्रजामि गच्छामि तन् मे मम अरतिः

अर्चिः न परः अपचारः अहिदाचरणं परेषाम् अपचारः दुराचरणं वा न अस्तीति

शेषः । हि यतः पूर्वयुगानुरूपे पूर्वयुगसदृशे धर्मे स्थिता पूर्वयुगवद् धर्माचरणं धुर्वन्तः

भवन्तः सर्वे महर्षिणा कल्पाः सदृशाः सन्ति ।

ततो वचः सूनृतमर्थवच्च सुशृङ्खणमोजस्रि च गावितं च ।

श्रुत्वा कुमारस्य तपस्विनस्ते विशेषयुक्तं यद्दुमानमीयुः ॥५०॥

ततः स्वान्तर्गतभावत्रयानन्तरं कुमारस्य मिदार्थस्य सूनृतं प्रियं सत्यं च, अर्थवच्च सारवच्च, सुशृङ्खणं सुमधुरं संचितं वा ओजस्रि च प्रभावशालि च, सुवृणं अन्वितं मानयुक्तं वृत्रः वचनं श्रुत्वा ते परिवार्य स्थिताः तपस्विनस्तापसाः विशेष-युक्तम् असाधारणं बहुमानम् अत्यधिकमानम्, ईयुः गताः । कुमारस्योदारमाशयं शक्त्वा तेषां हृदयानि तं प्रति सविशेषं ममादरपूर्णानि जातानि ।

कश्चिद् द्विजस्तत्र तु भस्मशायी प्रांशुः शिखी दारवञ्जीरवासाः ।

आपिङ्गलाक्षस्तनुदीर्घघोणः कुण्डैकहस्तो गिरिमित्युवाच ॥५१॥

तत्र तेषु भस्मनि धेते इति भस्मशायी, प्रांशुः अतितेजस्वी, शिखा अस्यास्तीति शिखी जटीति यावत्, दारवञ्जीरवासाः तरुवग्धारी, आ ईपत्पिङ्गले कपिलवर्णे अक्षिणी यस्य स, 'कपिलः पिङ्गपिशत्रौ कद्रुपिङ्गलौ' इत्यमरः । मन्वी कृशा दीर्घा च घोणा नासिका यस्य सः 'घोणा नासा च नासिका' इत्यमरः । कुण्डं पात्रविशेषः कमण्डलुर्वा एकं केवलः हस्ते यस्य स तथाविधः कश्चिद् द्विजः इति वक्ष्यमाणां गिरं वाचमुवाच । वृत्तमिन्द्रवज्रा ।

धीमन्नुदारः खलु निश्चयस्ते यस्त्वं युवा जन्मनि दृष्टदोषः ।  
स्वर्गापवर्गौ हि विचार्य सम्यग्यस्यापवर्गे मतिरस्ति सोऽस्ति ॥५२॥

हे धीमन् बुद्धिमन्, ते तव निश्चयः भयप्रणाशनरूप उदारः, खलु महान एव । यस्त्वं युवा युवकः सन् जन्मनि प्रवृत्तौ दृष्टः लक्षितः दोषः येन तथाभूतः असि । स्वर्गं प्रवृत्तिम् अपवर्गं मोक्षं निवृत्तिं च सम्यक् पूर्णतया विचार्य आलोच्य हि एव यस्य अपवर्गे मोक्षे मतिः प्रवृत्तिः रुचिर्वा अस्ति न सात्त्विको बुद्धिसम्पन्नः भवान् अस्ति । सात्त्विकी बुद्धिस्तु 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये । वन्द्यं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी' इति गीता । इन्द्रवज्राख्यं वृत्तम् ।

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैश्च तैस्तेः स्वर्गं यियासन्ति हि रागवन्तः ।

रागेण सार्धं रिपुण्यं युद्ध्वा मोक्षं परीप्सन्ति तु सत्त्ववन्तः ॥५३॥

तैस्तेः विविधैः यज्ञैः तपोभिः <sup>विभक्तैः</sup> करणैः रागवन्तः राजसाः माधराः हि निश्चयेन स्वर्गं यियासन्ति गन्तुमिच्छन्ति राजससाधवास्तु गीतायाम्- 'रागी कर्मफलप्रेप्तुर्लुब्धो हिसारमवोऽशुचिः । ईर्ष्योद्योन्वितः कर्त्ता राजसः परकीर्त्तितः ।' इति । तु किन्तु सत्त्वं विद्यते एवामिति सत्त्ववन्तः । सत्त्वं सांख्यशास्त्रे प्रकाशग्रोधनम्

भुजः वा अगाधा अतलस्पर्शिनी गम्भीरता गभीरता स्थिता वा सु-  
 दौलता तेजः सानि चोक्तानि मृष्टोच्चघोणमिश्यादि प्रतिभावस्त्वमूलकानि लक्षणानि  
 ते करणस्त्वं प्रथिव्या भूमण्डले तन् तथाविधम् आचार्यस्य कर्म भावो वा आचार्यम्  
 आचार्यपदं प्राप्स्यति यद् यथाविधम् ऋषिभिः पूर्वद्वेगेऽपि न अवाप्तम् प्राप्तम् ।  
 भवानपूर्वामाचार्यपद्वीमाविगमिष्यतीति सारः । वृत्तमिन्द्रवज्राण्यम् ।

परममिति ततो नृपान्मज्जन्मृषिजनं प्रतिनन्द्य नियया ।

विधिवदनुविधाय तेऽपि तं प्रविशिशुराश्रमिणस्तपोवनम् ॥५८॥

परमम् इति स्त्रीकार 'ओमेव परमं मतम्' इत्यनरः । परमम् ओम् इत्यनेन  
 प्रकारेण तस्य तपोधवस्य सम्पत्तिं स्त्रीकृत्य नृपान्मज्जः राजपुत्र- मिद्वार्य- तं परिवार्य-  
 स्थितम् ऋषिजनं 'जातावेकवचनम्' इति । प्रतिनन्द्य अभिनन्द्य प्रसाय वा तत्तत्साद्  
 वृत्तमूलान् निर्व्यञ्चो निर्जगाम ५ तं तपस्विनोऽपि विधिवद् विविपूर्वकं यथाशास्त्रं वा  
 अनु सदशं, विधाय कृत्वा अवसरोचितविमर्जनकिया सम्प्राय उचितरीत्या तं  
 विद्वज्येति भावः तपोवनं प्रविशिशु' प्रविष्टवन्तः । अपरवक्त्राख्यं वृत्तम् ।

इति सुदचरिते महाकाव्ये अन्वयार्थदर्शिकाया तपोवनप्रवेशो नाम सप्तमः सर्गः ।

अथ रघुवंशम् संजीविन्या समेतम्

## द्वितीयः सर्गः

अथ प्रजानामधिपः प्रभते जायाप्रतिप्राहितगन्धमाल्याम् ।

वनाय पीतप्रतिपद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृपेर्मुमोच ॥ १ ॥

अथ निशानयनानन्तरं यशोधनः प्रजानामधिपः प्रजेधुरः प्रभते प्रातःकाले जायया मुद्रात्प्रेगया प्रतिप्राहयिष्या प्रतिप्राहिते स्वीकारिते गन्धमाल्ये यथा सा जाया-  
प्रतिप्राहितगन्धमाल्या ता तथोक्ताम् । पीतं पानमस्यास्तीति पीतः । पीतवानिन्द्रधेः ।  
[अर्शादिभ्योऽच्' इत्यन्प्रत्ययः । 'पीता गावो मुक्ता ब्राह्मणाः' इति महाभाष्ये  
दर्शनात् ।] पीतः प्रतिपद्धो वत्सो यस्यान्मृपेर्वेत्तु वनाय वनं गन्तुम् । [क्रियार्थोपपद  
इत्यादिना चतुर्थी ।] मुमोच मुक्त्वान् । [जायापदमामर्थ्यान् मुद्राक्षणायाः पुनर्जननः  
योग्यत्वमनुसन्धेयम् । तथाहि भृति.—'पतिर्जाया प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् । तस्या  
पुनर्भवो भूत्वा दशमे मासि जायते । तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ।' इति ।  
यशोधने इत्यनेन पुत्रवत्तादीर्तिलोभाद्राजानहे गोरक्षणे प्रवृत्तः इति गम्यते ।] अस्मिन्  
सर्गे वृत्तमुपजातिः—'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभात्री पादौ यदीयावुपजातयन्ताः' इति ।

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीयाः ।

मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी धृतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छन् ॥ २ ॥

पासवो दोषा आसा मन्तीति पासुलाः खंरिण्यः । खंरिणी पासुला' इत्यमरः ।  
'मिष्मादिभ्यश्च' इति लृप्प्रत्ययः । अपामुलानां पतिजनानां धुर्ये कीर्तनीया परिगणनीया  
मनुष्येश्वरधर्मपत्नी । खुरन्यासः पवित्राः पांसवो यस्य तम् । [रेणुद्रयोः क्वियां धूलिः  
पांसुनां न द्वयो रज' इत्यमरः ।] तस्या धेनोर्मांसम् । रभृतिर्मन्वादिवाक्यं धृतेर्वेदेवाक्य-  
न्यार्थमभिधेयमिव । अन्वगच्छन्नुसृतवती । सिधा स्मृतिः धृतिधुण्णमेवार्थमनुसरति तथा  
सापि गोखुरधुण्णमेव मार्गं मनुमनारोत्यर्थः । मिर्मन्तीत्यजाश्रयासादिवत्तार्थ्यं पशौ मनास-  
प्रवृत्तिविकाराभावान् । पांसुलपथप्रवृत्तादप्यपासुलानामिति विशेषान्तरं करोति ध्वन्यते ।]



निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।

पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोष गोरूपधरामिवोर्वाम् ॥ ३ ॥

दयालुः कारुणिकः । [‘स्याद्दयालुः कारुणिक.’ इत्यमरः । ‘रृष्टिग्रहि-’ इत्यादिना ५५  
लुञ्प्रत्ययः ।] यशोभिः सुरभिर्मनोः । [‘सुरभिः स्यान्मनोज्ञेऽपि’ इति विश्वः ।] राजा  
तां दयितां निवर्त्य सौरभेयीं कामधेनु-मुतां नन्दिनी । [धरन्तीति धराः । पचायच ।]  
पयोधरीः पयोधराः स्तना । [‘स्त्रीस्तनाच्चौ पयोधरी’ इत्यमरः ।] अपयोधराः पयो-  
धराः संपद्यमानाः पयोधरीभूताः । [अभूततद्भावे च्विः । ‘कुगति प्रादयः । इति  
ममानः ।] पयोधरीभूताश्चत्वारः समुद्राः यस्यास्ताम् । [‘अनेकमन्यपदार्ये’ इत्यनेक-  
पदार्यप्रहणं सामर्थ्यात्त्रिपदो बहुव्रीहिः ।] गोरूपधरामुर्वामिव । जुगोष ररत् । [भ्रूचङ्ग-  
प्रयत्नेनैव ररत्तेति भावः । धेनुपक्षे पयसा दुग्धेनाधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्याः सा  
तथोक्ताम् । दुग्धतिरस्कृतसागरमित्यर्थः ।

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्यपेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।

न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ ४ ॥

व्रताय धेनोरनुचरेण । ननु जीवनायेति भावः । तेन दिलीपेन शेषोऽवशिष्टो-  
प्यनुयायिवर्गोऽनुचरवर्गो न्यपेधि निवर्तितः । शेषत्वं मुदाक्षिणापेक्षया । कथं तर्थात्म-  
रक्षणमत आह—न चेति । तस्य दिलीपस्य शरीररक्षा चान्यतः पुरुषान्तरात् । कुतः ।  
हि यस्मात्कारणान्मनोः । प्रसूयत इति प्रसूतिः सन्ततिः स्ववीर्येणैव रक्षिता । नहि  
स्वनिर्वाहकस्य परापेक्षेति भावः ।

धास्वादचद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।

अव्याहतैः सैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥५॥

सम्राण्मण्डलेश्वरः [‘यिनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यथाज्ञया  
राज्ञः स सम्राट्’ इत्यमरः ।] स राजा आर्जुदेवद्वी रसवद्भिः । स्वादयुक्तैरित्यर्थः ।  
तृणानां कवलैर्ग्रामैः [‘प्रासस्तु कवलार्थकः’ इत्यमरः ।] कण्डूयनैः खर्जनैः दंशानां  
वनमाक्षिकाणां निवारणैः । [‘दंशस्तु वनमाक्षिका’ इत्यमरः ।] अव्याहतैरप्रतिहतैः  
सैरगतैः स्वच्छन्दगमनैश्च तस्याः धेन्वाः समाराधनतत्परः शुभ्रपासकोऽभूत् । तदेव  
परं प्रधानं यस्मेति तत्परः [‘तत्पर प्रसितासक्तौ’ इत्यमरः ।]

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निपेदुपीमासनवन्धधीरः ।

जलाभिलापी जलमाददानां छायेष तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

भूपतिस्तां गां स्थिना सती स्थितः सन् । स्थितिरूर्ध्वविस्थानम् । प्रयात्  
प्रस्थितामुच्चलितः प्रस्थितः । निपेदुषी निपण्णाम् । उपविष्टामित्यर्थः । [भाषाया  
सदवमश्रुव' इति कमुप्रत्ययः । उगितश्च इति टोप् ।] आमनबन्ध उपवेशने धीरः ।  
स्थित । उपविष्ट' मचित्यर्थः । जजमाददानां पियन्ती जलामिलायां । पिबन्नित्यर्थः ।  
इत्थं छायेवान्वगच्छदनुसृतवान् ।

स न्यस्ताचिह्नमपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।

आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥ ७ ॥

न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामरादीनि यस्यास्तां तथाभूतामपि  
तेजोविशेषेण प्रभावातिशयेनानुमिताम् । सर्वथा राज्ञश्चयं भवेदित्युद्दितां राजलक्ष्मीं  
दधान' न राज्ञः । अनाविष्कृतदानराजिर्बेहिरप्रकटितमदरेखः । अन्तर्गता मदावस्था  
यस्य सोऽन्तर्मदावस्थः । तथाभूतो द्विपेन्द्र इव । आसीत् ।

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।

रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेप्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ॥ ८ ॥

लताना वलीनां प्रतानैः कुटिलतन्तुभिर्दुद्ग्रथिता उक्तमप्य ग्रथिता ये केशान्तै-  
रुल्लङ्घिताः । [इत्थं भूतलक्षणे' इति तृतीया ।] स राजा अधिज्यमारोपितमौर्वीकं  
धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा सन् [धनुपध' इत्यनङोदेशः ।] मुनिहोमधेनोः रक्षापदेशा-  
दल्लगध्याजान् वन्यान्वने भवान्दुष्टसत्त्वान् दुष्टजन्तून् । [द्रव्यामुप्यवमायेषु सत्त्वमन्त्री  
तु जन्तुषु ।' इत्यमर ।] विनेप्यन्निशक्षयिष्यान्निव , दाव' वनं [विने' च मनवहो च दवो  
दाव इहेष्यते' इति यादवः ।] विचचार' वने 'चचारेत्यर्थः । [दिशकालाध्वगन्तव्या'  
कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति दावस्य कर्मत्वम् ।]

'विस्फुट-इत्यादिभिः पद्भिः श्लोकैस्तस्य महामहिमतया द्रुमादयोऽपि  
राजोपचारं चमुरित्याह—

विस्फुटपार्श्वानुचरस्य तस्य पाश्वेद्रुमाः पाशभृता समस्य ।

उद्दीर्यामासुरिचोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विराडैः ॥ ९ ॥

विस्फुटा पार्श्वानुचराः पार्श्ववर्तिनो जना येन तस्य । पाशभृताः परिष्कृतं समस्य  
तुल्यस्य । [प्रचेता वरणः पाशो' इत्यमरः ।] अनुभावोनेन सूचितः, तस्य राशः पार्श्व-  
योर्द्रुमाः । उन्मदानामुन्मदानां वयसां खगानां । [खगवान्यादिनोर्वयः' इत्यमरः ।]  
विराडैः शब्दैः आलोकस्य शब्दं वाचकमालोकयेति शब्दम् । जयशब्दमित्यर्थः [आलोक्यो  
जयशब्दः स्यात्' इति विश्वः ।] उद्दीर्यामासुरिवावदन्निव' इत्युत्प्रेक्षा ।

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम् ।

अवाकिरन्याललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥१७॥

मन्त्रयुक्ता वायुना प्रेरिताः बाललता आरात्मर्षोऽभिवर्तमानम् । [आराद्दूर-  
समीपयोः' इत्यमरः ॥ मरुतो वायोः मन्त्रा मन्त्रमण्डोऽग्निः स द्वाभातीति मरुत्प्रयुक्तम् ।  
[आनधोपमर्गं' इति कप्रत्ययः] अर्च्यं पूज्यं तुं दिलीपं प्रसूनैः पुष्पैः । पौरकन्याः  
पौराश्च ताः कन्या आचारार्थैर्गजैराचारलाजैरिव । अवाकिरन् । स्तितस्योपरि निश्चितवत्य  
इत्यर्थः । सखा द्वि सखायमागतमुपचरतीति भावः ।

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विंशद्भैः ।

विलोकयन्त्यो यपुरापुरक्षणां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥१९॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य राज्ञः । एतेन भयसंभावना दर्शिता । तथापि विशद्वैर्निर्भीकै-  
रन्त-करणैः कर्तृभिः । दयया कृपारमेनार्द्रा भावोऽभिप्रायो यस्य तद्दयार्द्रभावं  
तदाख्यातम् । दयार्द्रभावमेतदित्याख्यातमित्यर्थः । [भाव. मत्तास्तभावभिप्रायचेष्टात्म-  
जन्मसु' इत्यमरः ॥ तथाविधं यपुरविलोकयन्त्यो हरिण्योऽङ्गणां प्रकामविस्तारस्वात्यन्त-  
निशालनायाः फलमापुः । [मिमलं क्लृप्ता-भवश्च चेतः कश्चन्येव द्वितैपिणं रिपुं च ।'  
इति न्यायेन स्वान्त-करणवृत्तिप्रामाण्यादेव विधेयं ददृशुरित्यर्थः ।]

स कीचकैर्मोक्तपूर्णरन्ध्रैः कूजद्विरापादितवंशकृत्यम् ।

शुथाय कुलेषु यदाः स्वमुखैरुद्गीयमानं चनदेषताभिः ॥१२॥

मृदिलीपो मारुत्पूर्णरन्ध्रैः अत एव कूजद्विः स्वनद्विः । कीचकैर्वंशविशेषैः ।  
[विग्वः कीचकास्ते स्युर्यं स्वनन्त्यनिर्लोढताः' इत्यमरः ॥ वंशः सुपिरवाद्यविशेषः ।  
[वंशादिकं तु सुपिरम्' इत्यमरः] आशादितं सम्पादितं वंशस्य कृत्यं कार्यं यस्मिन्कर्मणि  
तत्तथा । कुलेषु लभ्यतेषु [निङ्प्रकुञ्जी वा श्रुतेषु लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः ॥ वृन्-  
देवताभिरुद्गीयमानमुखैर्गीयमानं स्वं यदाः शुथाय धृतवान् ।

पृक्तस्तुपारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।

तमातपफलान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिपेवे ॥१३॥

गिरिषु निर्झराणां वारिप्रवाहाणाम् । [वारिप्रवाहो निर्झरो क्षरः' इत्यमरः ॥ तुपारैः  
मोकरैः । [तुपारी हिमगोकरौ' इति शाश्वतः ॥] पृक्तः संपृक्तोऽजोऽद्धानां वृषाणाम्-  
कम्पितानां कम्पितानि पुष्पाणि तेषां यो गन्धः सोऽस्यास्तीति आकम्पितपुष्प-  
गन्धी । ईषकम्पितपुष्पगन्धवान् । एवं शानो मन्दः सुरभिः पवनो वायुनातपत्रं

प्रतार्यं परिहृतच्छत्रम् । अनाएवातपुत्रान्नामाश्रयेण पूर्तं शुद्धं तुं सृष्टं म्रियेते । आचार-  
पूतत्वात्न राजा जगत्पावनस्यापि सेव्य आसीदिति भावः ।

शशराम वृष्ट्यापि विना द्वात्रिंशत्सीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।

ऊनं न सत्त्वेप्यधिको वयाधे तस्मिन्वनं गोसरि गाहमाने ॥१४॥

गोसरि तस्मिन्नाज्ञि वने गाहमाने प्रविशति वृष्ट्या विनापि । द्वात्रिंशः ।  
[‘द्वन्द्ववौ वनानले’ इति हेम’ ] शशराम । फलानां पुष्पाणां च वृद्धिः । विशेष्यत इति  
विशेष्य । अतिरायितांसीत् । [‘कर्मिण्यं घन् प्रत्ययः’ ] सत्त्वेण जन्तुषु मध्ये । [‘यनश्च  
निर्धारणम्’ इति सप्तमी ] अधिकः प्रबला व्याघ्रादिरुनं दुर्बले हरिणादिकं न वयाधे ।

संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।

प्रचक्रमे पल्लवरागताम्ना प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥१५॥

पतङ्गस्य रामो वर्णः पल्लवरागः । ‘रागोऽनुरक्तौ मातमर्यङ्गेशादौ लोहितादिषु’  
इति शाश्वतः । स एव ताम्ना पल्लवरागताम्ना पतङ्गस्य सूर्यस्य प्रभा वान्तिः । ‘पतङ्गः  
पक्षिमूर्त्ययोः’ इति शाश्वतः मुनेधेनुश्च दिगन्तराणि दिशामवकाशात् । ‘अन्तरमवकाशा-  
वधि परिधान्ताधिभेदतादर्थ्ये’ इत्यमरः । संचारेण पूतानि शुद्धानि कृत्वा दिनान्ते  
सार्यक्षले निलयायास्तमयाय, धेनुपक्षे आलयाय चागन्तुं प्रचक्रमे ।

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वगम्यथौ मध्यमलोकपालः ।

वभौ च सा तेन सतां मतेन धर्द्धेव साक्षाद्विधिनीपपन्ना ॥१६॥

मध्यमलोकपालो भूपालः देवतापित्रतिथीनां क्रिया यागध्याददानानि ता एवार्थ-  
प्रयोजनं यस्याक्षा धेनुमन्वगन्तुपदं यथौ । ‘अन्वगन्वधमनुगेऽनुपदं जीवमध्यगम्’  
इत्यमरः । गता मतेन सद्रिमान्येन । ‘मतिधुद्धि—’ इत्यादिना वर्तमाने क्तः । ‘क्तस्य  
च वर्तमाने’ इति पठ्ये । तेन राज्ञोपपन्ना मुक्ता सा धेनुः । सता मतेन विधिनावुष्ठा-  
नेनोपपन्ना मुक्ता सा साक्षात्प्रत्यक्षा भद्राश्विक्वदुद्धिरिव । वभौ च ।

स पल्लवलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।

यथौ सृगाध्यासितशाङ्गलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥१७॥

स राजा । पल्लवलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि यूथानि  
शुद्धानि येषु तानि । बर्हिण्येषां सन्तीति बर्हिणा मयूराः ‘मयूरो बर्हिणो बर्ही’  
इत्यमरः । ‘पल्लववर्द्धाभ्यामिनच्छप्रत्ययो वक्तव्यः’ । आवासवृक्षाणांमुसुरा बर्हिणा येषु  
तानि श्यामायमानानि वराहबर्हिणादिमलिनिम्ना अश्यामानि श्यामानि भवन्ति इति

श्यामायमानानि । 'लोहितादिडाग्भ्यः क्यप्' इति क्यप्प्रत्ययः । 'वा क्यप्' इत्यात्मनेपदे शानच् । मृगैरश्यामिना अधिष्ठिताः शाद्वलाः येषु तानि । शादाः शष्पाभ्येषु देशेषु मन्तीति शाद्वलाः शष्पश्यामेदशाः । 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः । शादः कर्दम-  
शष्पयोः' इति विश्वः । 'नडशादाद् इवलच्' इति इवलच्प्रत्ययः । वनानि पश्यन्त्ययौ ।

आपीनभारोद्धहनप्रयत्नाद् गृष्टिगुरुत्वाद्गुणो नरेन्द्रः ।

उभावलंचक्रतुरञ्जिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥१८॥

गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः । 'सकृत्प्रसूता गौरुगृष्टिः' इति हलायुध । नरेन्द्रश्च । उभौ यथाक्रमम् । आपीनमूधः । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । आपीनस्य भारोद्धहने प्रयत्नात्प्रयामान् । वपुषो गुरुत्वादाधिक्याच्च । अञ्जिताभ्यां पारुभ्यां गताभ्यां गमना-  
भ्यां तपोवनादावृत्तः पन्थाः आवृत्तिपथस्तं तपोवनावृत्तिपथम् । 'ऋक्पू-' इत्यादिना समासान्तोऽच्प्रत्ययः । अलंचक्रतुर्भूपितवन्तौ ।

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमाद्यर्तमानं वनिता वनान्तात् ।

पपौ निमेषालसपद्मपंक्तिरुपोपिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥१९॥

वसिष्ठधेनोरनुयायिनमनुचरं वनान्तादावर्तमानं प्रत्यागतं तं दिलीपं वनिता मुदक्षिणा । निमेषेष्वलसा मन्दा पद्मणां पङ्क्तिर्वस्याः सां निर्निमेषा सतीत्यर्थः । लोचनाभ्यां करणाभ्यां । उपोपिताभ्यामिव । उपवासो भोजननिवृत्तिः । तद्बद्धयामिव । वनतेः वर्तते क' । पपौ । यथोपोपितोऽनिनृष्णया जलमधिकं पिबति तद्वदतिनृष्णया-  
धिकं व्यलोकयदित्यर्थः ।

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।

तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥२०॥

वर्त्मनि पार्थिवेन पृथिव्या ईश्वरेण । 'तस्येश्वरः' इत्यन्प्रत्ययः । पुरस्कृताप्रतः कृता । धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी । धर्मार्थपत्नीत्यर्थः । अध्यासात्तद्विषयार्थे षष्ठीसमासः । पार्थिवस्य धर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुस्तदन्तरे तयोर्दम्पत्योर्मध्ये । दिनक्षयोर्दिन-  
रात्रयोर्मध्यगता मन्थेव विरराज ।

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां मुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।

प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥२१॥

अज्ञाना पात्रेण सह वर्तते इति साक्षतपात्री हस्तौ यस्याः सा मुदक्षिणा पयस्विनीं प्रशस्तक्षीरां नां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च तस्या धेन्वा विशालं शृङ्गान्तरं

गृहमयं । अर्धमिदं कार्यमिदं द्वारं प्रवेगनार्गमिव । आनर्चयिष्यामसु । अर्च-  
तेर्भावादिकाश्चिद् ।

वत्सोऽसुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ ।

भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥२२॥

सा धेनुर्वसुकापि वन्म उरकण्ठितापि स्तिमिता निश्चला मनी सपर्यां पूजा  
प्रत्यग्रहीदिति हेतोस्तौ इमं ननन्दतुः । पूजास्तीकारस्नानन्दहेतुत्वमह-भक्त्येति ।  
पूज्येष्वनुरागो भाक्त । तयोपपन्नेषु युक्तेषु विषये तद्विधानाम् । तस्या धेन्या विधेय  
विधाप्रकारो देया तेषाम् । महतामिन्वर्थः । प्रसादम् चिह्नानि लिङ्गानि पूजास्तीकार-  
दीनि पुर फलानि पुरोगतानि प्रत्यामलानि फलानि देया तानि हि । अक्लिम्बितकन्-  
सूचमलिङ्गदर्शनाशानन्दो युज्यत इत्यर्थः ।

गुरोः सदारस्य निर्पाड्य पादौ समाप्य सांध्यं च विधिं दिल्लीपः ।

दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निपण्णाम् ॥२३॥

भुजोच्छिन्नरिपुर्दिलीपः सदारस्य दारैरहन्ध्या सह वर्तमानस्य गुरोः ।  
उभयारपीत्यर्थः । 'भायां आदाय पुं भूञ्जि दारा' इत्यमरः । पादौ निर्पाड्याभिवन्त्य ।  
सांध्ये मंथाया विहितं विधिमतुश्रनं च समाप्य । दोहावसाने निपण्णामासीनां  
दोग्ध्रीं दोहनशीलाम् । 'तृन्' इति तुग्रन्थवः । धेनुमेव पुनर्भेजे सेविताम् ।  
दोग्ध्रीमिति निरुपपन्नप्रयोगात्कामधेनुत्वं गम्यते ।

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।

क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥२४॥

गोप्ता रक्षणे गृहिणीसहाय पत्नीद्वितीयः सन् । उभावपीत्यर्थः । अन्तिके  
न्यस्ता बलयः प्रदीपाश्च यस्यास्ता तथोक्ता ता पूर्वाकां निपण्णां धेनुमन्वास्यानूर-  
विद्य क्रमेण सुप्तामन्वन्तरं संविवेश सुप्ताय । प्रातः सुप्तोरिथिताननूदतिष्ठतुन्वित-  
वादे । अत्रानुमन्वेन धेनुरात्रव्यापारयोः पौर्वार्यमुच्यते क्रमसन्देन धेनुव्यापाराणा-  
मेव इत्यपीनहृत्त्वम् । 'कर्मप्रवचनीयदुक्ते—' इति द्वितीया ।

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तः ।

सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥२५॥

— इत्यमनेन प्रकारेण प्रजार्थं संतानाय महिष्या समनभिधिकपन्त्या सह ।  
'व्रताभिपेया महिषी, इत्यमरः । व्रतं धारयतः महनीया पूजा कीर्तिस्य तस्य ।

दीनानामुद्धरणं दैन्यविमोचनं तत्रोचितस्य परिचितस्य तस्य नृपस्य । अथो गुणा  
आवृत्तयो येषां नानि त्रिगुणानि त्रिरावृत्तानि सप्त दिनान्येकविंशतिदिनानि व्यतीसु ।

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिघासमाना मुनिहोमधेनुः ।

गङ्गाप्रपातान्तविरुद्धशय्यं गौरीगुरोर्गङ्गरमाविवेश ॥२६॥

अन्येद्युर्गन्धर्म्मिन्द्रिने-द्वाविंश दिने । 'मघ. परुत्परारि-' इत्यादिनानिपातना-  
दव्ययम् । 'अथात्रान्हायपूर्वेऽर्क्षन्यादी पूर्वेतिरापरान् । तथाऽधरान्यान्यन्तेरेतरात्पूर्वे-  
युरादय' इत्यमर । मुनिहोमधेनु । आत्मानुचरस्य भावमभिप्रायं दृढभक्तिव्यवम् ।  
'भागेऽभिप्राय आशय' । इति यादवः । जिज्ञासमाना ज्ञातुमिच्छन्ती । 'ज्ञाश्रुस्मृदशा  
मनः' इत्यात्मने पदे धातव् । प्रपतत्यम्भिन्निति प्रपात-पतनप्रदेशः । गङ्गायाः प्रपाता-  
न्तस्तस्यान्ते मनीषि विरुद्धानि ज्ञानानि शष्पाणि बालनृणानि यस्मिस्तान् । 'शय्यं  
बालनृशं घाग.' इत्यमरः । गौरीगुरो पार्वतीपितुर्मङ्गरं गुह्यमाविवेश ।

सा दुष्प्रथर्षा मनसापि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।

अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसृष्ट सिंहः किल तां चकष्य ॥२७॥

सा धेनुर्द्विर्ध्व्याप्रादिभिर्मनसापि दुष्प्रथर्षा दुर्बर्षाति हेतोरद्रिशोभाया प्रहि-  
तेक्षणेन दत्तद्रष्टिना नृपेणालक्षितमभ्युत्पतनमाभिसुन्येनोत्पतनं यस्य स सिंहस्ता धेनु  
प्रसृष्ट दृष्टान् । 'प्रसृष्ट तु दृष्टार्थकम्' इत्यमरः । चकष्य क्लेश्यतीकं ।

तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोगुंहानिघट्टप्रतिशब्ददीर्घम् ।

रश्मिप्विधादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥२८॥

गुह्यानिघट्टेन प्रतिशब्देन प्रनिघञ्जिता दीर्घम् । तस्या इदं तदीयम् । आक्रन्दि-  
तमार्तसोपगम् । आर्तश्लाघनेषु साधोर्द्विर्घारिणो नृपस्य नगेन्द्रसक्ता दृष्टि रश्मिषु  
प्रसृष्टेषु । 'द्विर्घणप्रसृष्टी रश्मी' इत्यमरः । आदायेव गृहीत्वेव निवर्तयामास ।

स पाटलायां गवि तस्थियांसं धनुर्धरः केमरिणं ददर्श ।

अधिन्यक्तायामिव धातुमय्यां लोधद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२९॥

धनुर्धरः स नृपः पाटलाया रक्तवर्णाया गवि तस्थिवानं स्थितम् । 'क्वमुध  
इति क्मु प्रत्ययः । केमरिणं सिंहम् । सानुमतोऽङ्गेः । धानोर्ध्वारिणस्य विकारो धातुमयी  
तस्यामिविव्यसायानूर्ध्वभूमौ । 'अन्यस्यद्वेरासधाभूमिन्ध्वमधित्यका' इत्यमरः ।  
'अनाधिन्या त्वस्यज्ञानसात्प्रयोः' इति त्यक्प्रत्ययः । प्रफुल्लं विकसितम् । 'फुल्ल  
विकसने इति धातोः पचायच । 'प्रफुल्लम्' इति तस्मात्पाठे 'विभक्त विभक्तये' इति  
धातोः कर्त्तरि क्तः । 'अपरस्नान' इत्युत्तरादेशः । लोप्रार्थं द्रुमनि ददर्श ।

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।

जाताभिपद्मो नृपतिर्निपद्मादुद्धर्तुमैच्छन्प्रसभोद्धृतारिः ॥३०॥

ततः सिद्धदर्शनानन्तरं मृगेन्द्रगामी सिद्धगामी । शरणं रक्षकम् । 'शरणं रक्षणे गृहे' इति यादवः । शरणे माधुः शरण्यः । 'तत्र साधुः' इति मत्प्रत्ययः । प्रमत्नेन वलात्कारेणोद्धृताभरणे येन न नृपती राजा जाताभिपद्मो जानपराभवः सन् । 'अभिपद्मः पराभवे' इत्यमरः । वध्यस्य वधाईस्य । 'दण्डादिभ्योः' इति यः प्रत्ययः । मृगेन्द्रस्य वधाय निपद्मान् तृणोरान् । 'तृणोपासहत्तृणोरनिपद्मा दपुभिर्द्वयोः' इत्यमरः । शरमुद्धर्तुमैच्छन् ।

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूपितकङ्कपत्रे ।

सत्तांगुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्ये ॥३१॥

प्रहर्तुस्तस्य वामेतरः दक्षिणः करः । नखप्रभाभिर्भूषितानि विच्छुरितानि कङ्कस्य पक्षिविद्योपस्य पत्राणि यस्य तस्मिन् । 'कङ्कः पक्षिविशेषे स्याद्गुप्ताशरे शुक्तिष्ठरे' इति विश्वः । 'कङ्कस्तु कर्कटः' इति यादवः । सायकस्य पुंख एव कर्तार्याख्ये मूढप्रदेशे 'कर्तरीपुङ्खे' इति यादवः । सत्तांगुलिः सन् । चित्रार्पितारम्भश्चित्रान्निखितशरोद्धरणयोग इव । अवतस्ये ।

वाहुप्रतिष्ठम्भविद्वृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।

राजा स्वतेजोभिरदृष्टतान्तर्भोगीय मन्त्रौपधिद्वयीयः ॥३२॥

वाहोः प्रतिष्ठम्भेन प्रतिवन्धेन । 'प्रतिष्ठम्भ- प्रतिष्ठम्भः' इत्यमरः । विद्वृद्धमन्युः प्रवृद्धरोपो राजा । मन्त्रौपधिभ्यां द्वयीयः प्रतिवद्धसाक्षिभोगी सर्व इव । 'भोगी राजभुजंगयोः' इति शाश्वतः । अभ्यर्णमन्तिकम् । उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यन्ना अप्यभितोऽव्ययम् । इत्यमरः । आगस्कृतमपराधकारिणमरपृशद्भिः स्वतेजोभिरन्तरदृष्टव । 'अधिकृतान्महर्षेण तेजः प्राणान्येष्वपि' इति यादवः ।

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।

चिस्राययन्विस्मितमालमवृत्ती सिंहोरुसत्त्वं निजगाद् सिंहः ॥३३॥

निगृहीता पीडिता धेनुर्वैतनसिद्धः । आर्याणां सत्ता गृह्यं पश्यम् । 'पदास्त्रैरिवाप्यपश्येयु च' इति क्यप् । मनुवंशस्य केतुं चिह्नं केतुवद्व्यावर्तकम् । सिंह द्वोरुसत्त्वं महाबलस्तम् । आत्मनोऽनुभौ वाहुस्तम्भरूपे व्यापारेऽभूतपूर्वत्वाद्धिमितम् । वर्तारि ऋः । तं दिल्लीयं मनुष्यवाचा करणेन पुनर्विम्नाशयन्विस्मितं आश्चर्यं प्रापयन्नि-



जगाद । स्मिद् ईपद्दसने' इति धातोर्णिचि वृद्धावायादेशे शतृ प्रत्यये च सति विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् । 'विस्माययन्' इति पाठे पुगागमनाग्रं वक्तव्यम् । तच्च 'नितयं स्मयतेः' इति हेतुभयविवक्षायामेवेति 'भीस्मोर्हेतुभये' इत्यात्मनेपदे विस्माय-यन्निति रूपं सिद्धम् । करणविवक्षायां न कधिहोयः ।

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यख्यमितो वृथा स्यात् ।

न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति माहृतस्य ॥३४॥

हे महीपाल, तव श्रमेणालम् । साध्याभावाच्छ्रमो न कर्तव्य इत्यर्थः अत्र गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया धनस्य करणत्वात्पृथीया । उक्तं च न्यासोद्घोषे—'न केवलं धूममाणैव क्रिया निमित्तं करणभावस्य अपि तर्हि गम्यमानापि' इति । 'अलं भूपणपर्यामिदाकिवारणवाचकम्' इत्यमरः । इतोऽस्मिन्मयि । सार्वविभक्तिरस्तसिः । प्रयुक्तमप्यख्यं वृथा स्यात् । तथाहि । पादपोन्मूलने शक्तियस्य तत्तथोक्तं माहृतस्य रंहो बगः शिलोच्चये पर्वते न मूर्च्छति न प्रसरति ।

कैलासगौर वृषमारुरुक्षोः पादापणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।

अवेहि मां किं करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥३५॥

कैलान इव गौरः शुभ्रस्तम् । 'चार्माकरं च शुभ्रं च गौरमाहुर्मनीषिणः' इति शाश्वतः वृषं वृषभमारुहोरारोढुमिच्छेः । स्वस्योपरि पदं निक्षिप्य वृषमारोहतीत्यर्थः । अष्टौ मूर्तयो यस्य स तस्याष्टमूर्तेः शिवस्य पादापणं पादन्यासस्तोदेवानुग्रहः प्रसादस्तेन पूतं पृष्ठं यस्य तं यथोक्तं निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किंकरं मामवेहि विद्धि । 'पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च । सूर्याचन्द्रमयौ सोमयार्जा चेत्यष्टमूर्तयः' इति यादवः ।

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषमध्वजेन ।

यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥३६॥

पुरतोऽप्रतोऽमुं देवदारुं पश्यसि । इति काकुः । असौ देवदारुः वृषमो ध्वजे यस्य स तेन शिवेन पुत्रीकृतः पुत्रत्वेन स्वीकृतः । अभूततद्भावे त्विः । यो देवदारुः स्कन्दस्य मातुर्गौरी हेमः—पुम्भ एव स्तनन्यन्नाग्निमृतानां पयसान्म्वृणाम् । रसज्ञः सादज्ञः । स्कन्दपक्षे हेमकुम्भ इव स्तन इति विग्रहः । पयसां क्षीराणाम् । 'पयसां क्षीराणाम् । 'पयः क्षीरं पयोऽन्वु च' इत्यमरः । स्कन्दममानप्रेनास्पदमिति भावः ।

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।

अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥३७॥

कदाचिन्वटं कपोल काङ्क्षयमानेन धर्ययता । वण्ट्यादिभ्योयर्' इति यत् ।  
तत गानम् । वन्द्याद्विनेनास्य देवदारोस्त्वगुन्मथिता । अथादेम्वनया गौरा असुराश्रे-  
रालीढं दतम् । गेनां नयतीति सेनानीः स्कन्दः । पार्वतीनन्दनः स्कन्दः मेनानीः'  
इत्यमरः 'मत्सूद्विप-' इत्यादिना क्विप । तमिर एनं देवदारुं शुशोच ।

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।

व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्गागतसत्त्ववृत्तिः ॥३८॥

तदा तन्काल प्रसृतिरादिर्यसिन्वर्मणि तत्तथा तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं  
भयार्थं शूलभृता शिवेन । अद्गं समीपमागताः प्राप्ताः मत्वाः प्राणिनो वृत्तिर्यसिन्वन् ।  
'अद्गं समीप उत्सङ्गे बिड् स्थानारराधयो' इति केशवः । सिंहत्वं विधाय ।  
अस्मिन्नद्रिकुक्षौ शुशायामद्गं व्यापारितो नियुक्तः ।

तस्यालमेया क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।

उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विपश्चान्द्रमसी सुधेव ॥३९॥

परमेश्वरेण प्रदिष्टो निर्दिष्टः कालो भोजनवेला यस्याः सोपस्थिता प्रातिपा  
गोरुणा शोणितपारणा रुगिरस्य व्रतान्तभोजनम् । सुरद्विपो राहोः चन्द्रमस इयं चान्द्र-  
मसी सुधेव । क्षुधितस्य पुभुञ्जितस्य तस्याद्गगतमन्वृत्तेर्मे मम सिंहस्य तृप्त्या अलं  
पर्याप्ता । 'नम- स्वस्मि' इत्यादिना चतुर्थी ।

स त्वं निवर्तन्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः ।

शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥-

स एवमुवाचशून्यस्त्वं लज्जां विहाय निवर्तस्व । भक्तास्त्वं गुरोर्दर्शिता प्रकाशिता  
शिष्यस्य कर्तव्या भक्तिर्येन स तत्रोक्तोऽस्ति । ननु गुरुधनं विनाशय कथं तन्ममीयं  
मच्छेद्यमन आह शस्त्रेणेति । रक्षय्यं धनं शस्त्रेणायुजेन । 'शस्त्रमायुधलोहयो.' इत्यमरः ।  
अशक्या रक्षा यस्य तदशक्यरक्षणम् । रक्षितुमशक्यमित्यर्थः । तद्रक्ष्यं नष्टमपि शस्त्रभृता  
यशो न क्षिणोति न हिनन्ति । अशक्यार्थेऽप्यप्रतिविधाने न दोषायेति भावः ।

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।

प्रत्याहृतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां क्षिथिलीचकार ॥४१॥

पुरुषाणामधिराजो नृपं इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ध्रुवा  
गिरिशस्येश्वरस्य प्रभावान्प्रत्याहृतास्त्रः कुण्ठितास्त्रः सज्जात्मनि विषयेऽवज्ञानपमानं  
क्षिथिलीचकार । तन्यात्रेत्यर्थः । अवज्ञानोऽहमिति निर्वेदं न प्रापेत्यर्थः । ममानेषु दि  
क्षत्रियाणामभिमानो न सर्वेश्वरं प्रतीति भावः ।

प्रत्यग्रधीचैनमिपुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।

जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥४२॥

स एव पूर्वः प्रथमो भङ्गः प्रतिबन्धो यस्य तस्मिन्तत्पूर्वभङ्गं इपुप्रयोगे वितथ-  
प्रयत्नो विफलप्रयागः । अतएव वज्रं कुलिशं मुमुक्षन्मोक्तुमिच्छन् । अम्बकं लोचनं  
'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः । त्रीप्यम्बकानि यस्य स  
त्र्यम्बको हरः । तस्य वीक्षणेन जडीकृतो निष्पन्दीकृतः वज्रं पाणौ यस्य स वज्रपा-  
णिरिन्द्रः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवन इति वक्तव्यम्' इति पाणेः  
सप्तम्यन्तस्थोत्तरनिपातः । स इव स्थितो नृप एनं सिद्धं प्रत्यग्रवीच । 'बाहुं सवज्रं  
शकस्य क्रुद्धस्यास्त्राम्भयत्प्रभुः' इति महाभारते ।

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।

अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥४३॥

हे मृगेन्द्र, संरुद्धचेष्टस्य प्रतिबद्धव्यापारस्य मम तद्वचो वाक्यं कामं हास्यं  
परिहमनीयम् । यद्वचः 'स त्वं मदीयेन' ( १ । ४५ ) इत्यादिकमहं विवक्षुर्वक्तुमिच्छु-  
रस्मि । तर्हि तूष्णीं स्वीयतामित्याशाङ्क्येश्वरकिंकरत्वात्सर्वज्ञं त्वां प्रति न हास्यमित्याह  
अन्तरिति । हि यतो भवान् प्राणभृतामन्तर्गतं हृद्रतं वामवृत्या बहिरप्रकाशितमेव सर्वं  
भावं वेद वेत्ति । 'विदो लघो वा । इति णलदेशः । अतोऽहमभिधास्ये वक्ष्यामि ।  
वच इति प्रकृतं कर्म सम्ब्रथ्यते । अन्ये त्वीदम्बचनमाकर्ष्यांसंभावितार्थमेतदित्युप-  
हसन्ति । अतस्तु मौनमेव भूषणम् । त्वं तु बाङ्मनसयोरैकविध एवायमिव जानामि ।  
अतोऽभिधास्ये यद्वचोऽहं विवक्षुरित्यर्थः ।

मान्यः स मे स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।

गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥४४॥

प्रत्यवहारः प्रलयः । स्थावरणां तदृशैलादीनां जंगमानां मनुष्यादीनां सर्ग-  
स्थितिप्रत्यवहारेषु हेतुः स ईश्वरो मे मम मान्यः पूज्यः । अलङ्घ्यशासन इत्यर्थः ।  
शामनं च 'सिद्धत्वमद्भागतसत्त्ववृत्ति' ( १ । ३८ ) इत्युक्तरूपम् । तर्हि विमृज्य  
गम्यताम् । नेत्याहगुरोरपीति । पुरस्तादग्ने नश्यदिदमाहिताग्नेर्गुरोर्धनमपि गोरूपमनु-  
पेक्षणीयम् । आहिताग्नेरिति विशेषेणानुपेक्षाकारणंहविः साधनत्वं सूचयति ।

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद ।

दिनावसानोत्सुक्यालयत्सा विखृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥४५॥

लोऽङ्गुलतत्त्वकृतिस्त्वं नदंभेन देहेन शरीरस्य वृत्तिं जीवने निर्वर्तयितुं सम्य-  
दयितुं प्रसन्नं । दिनव्रतान् अनुद्ये नाना समगनिभ्यर्तुः कृत्स्नो बन्धुस्यो यस्याः  
ना नदंभेरियं धेनुर्विमुञ्चन्तम् ।

अयान्यकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।

भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद्विहस्यार्धपतिं यभाषे ॥४६॥

अथ भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्तुवतः स निहो निरेकं दणं गुरानम् । दिवस-  
वित्ते गुहा । गह्वरम् इत्यनरः । अन्यकारं चान्तं दंष्ट्रामयूखैः शकलानि खड्गानि  
कुर्वन् । निरेकं निरर्थकः । किञ्चिद्विहस्यार्धपतिं नृवं भूयो यभाषे । हास्यकारस्य  
'अपस्य हेतोर्वहुहातुमिच्छन्' (२।४७) इति वक्ष्यन्तां द्रष्टव्यम् ।

पृष्ठातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।

अल्पस्य हेतोर्वहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥

एद्यन्मग्नेच्छन्त्रं जगतः प्रभुत्वं स्वमित्वम् । नवं वसो मौवनम् । इदं  
चान्तं रम्यं वपुश्च । इत्येवं बहु । अपस्य हेतोरेत्येन कारणेन । अल्पस्यतावन्पर्यः ।  
'पृष्ठा हेतुमग्ने' इति पृष्ठा । हातुं त्वन्तुमिच्छस्त्वं विचारे कर्पां कर्पां विनर्त्तौ मूढो  
मूर्त्तौ मे मन प्रतिभासि ।

भूतानुकम्पा तद्य चेदियं गौरिका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।

जीयन्पुनः शम्भुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाय पितैर्व पासि ॥४८॥

तत्र भूतेश्वरानुष्णम्प्रा कृता चर । 'कृता दन्तुष्णम्प्रा स्तार' इत्यनरः । इत्येव  
वर्तते चेदित्यर्थः । तां त्वदन्ते तत्र नामो कर्त्तव्येभ्य गौः स्वस्ति चेन्नमस्या अस्तीति  
स्वस्तिमती भवेत् । अचेदित्यर्थः । 'स्वस्तीर्ताः चेतुम्प्रादी' इत्यनरः । हे प्रजानाय,  
जीयन्पुनः नितेव प्रजा उगप्लवेभ्यो विप्लेभ्यः शश्वत्सु । 'पुनः सहाय्योः शश्वत्'  
इत्यनरः । पासि रक्षामि । स्वर्गात्प्लवेभ्येभ्येभ्यः शश्वत्सु । अचेदित्येव शश्वत्सु शश्वत्सु-  
पलित्यर्थः ।

न घनंतेनादियं प्रवृत्तिः, किन्तु गुरुमनादित्यत्र आह—

अथेकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृदानुप्रतिमाद्विभेषि ।

शक्योऽस्यमन्युर्मयता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोष्णाः ॥४९॥

अपिने पन्नान्दरे । अथवा । एतैव धेनुर्मस्य तस्मात् । अयं घोरघरणो-  
पन्नास इति ज्ञेयम् । अथ एतदपि गवोरेव न च मे मति चण्डादिति ज्ञेयम् । 'चण्ड-

स्त्वत्यन्तघोषनः' इत्यमरः अतएव कृशानुः प्रतिमोपमा यस्य तस्मादमिक्त्वाद्गुरो-  
र्विभेपि । इति काकुः । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानात्पञ्चमी । अल्पवित्तस्य  
घनहानिरतिदुःसहेति भावः । अस्य गुरोर्मन्युः क्रोधः । 'मन्युर्दन्त्ये क्रतौ क्रुधि'  
इत्यमरः । घटा इवोघामि यामां ता घटोष्ठीः । 'अधसोऽनह्' इत्यनडादेशः ।  
बहुव्रीहेरुधसो षीप् इति षीप् । कोटिशो गाः स्पर्शयता प्रतिपादयता । 'विभ्राणनं  
वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इत्यमरः । भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः ।

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्ज्वस्वलात्तदेहम् ।

महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥

तत्तस्मात्कारणान् कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् । कर्मणि षष्ठी । ऊर्जा बलमस्या-  
स्तीति ऊर्जस्वल् । 'ज्योत्स्नातमिष्ठा-इत्यादिना बलच्प्रत्ययान्तो निपातः । आत्म-  
देहं रक्ष । ननु गामुपेक्ष्यात्तदेहरक्षणे स्वर्गहानिः स्यात् । नेत्याह-महीतलेति । ऋद्धं  
समृद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्धमात्रेण भिन्नमैन्द्रमिन्द्रसम्बन्धि पदं  
स्थानमाहुः । स्वर्गाञ्च भिद्यत इत्यर्थः ।

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।

शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभापतेच ॥५१॥

मृगेन्द्र एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य सिंहस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः  
शिलोऽपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभापतेच । इत्युत्प्रेक्षा । भापिरयं ब्रुविसमाना-  
र्थत्वाद्विर्मकः । ब्रुविस्तुद्विकर्मकेषु पठितः । तदुक्तम्- 'दुद्वियाचिरुधिप्रच्छिजिक्षिचि-  
यामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ । ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदक्षीर्तितमाचरितं  
वविना । इति ।

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।

धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥

देवानुचरस्येश्वरकिंकरस्य सिंहस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवो राजा पुनरप्युवाच  
स्मिभूतः सन् । तेन सिंहेन यदध्यासितं व्याक्रमणम् । नपुंसके भावे कः । तेन कातरे  
आक्षिपी यस्यास्तया । 'बहुव्रीहौ सकथ्यक्ष्णोः स्वात्रात्पच्' इति षच् । 'विद्रौरादिभ्यश्च'  
इति षीप् । किं वा वक्ष्यतीति भीत्यैवं स्थितयेत्यर्थः । धेन्वा निरीक्ष्यमाणः अत एव  
सुतरां दयालुः सन् । सुतरामित्यत्र 'द्विवचनविभज्ज-इत्यादिना मुशब्दात्तरप् ।  
'किमेत्तिङ्भ्यश्च' इत्यादिनाम्प्रत्ययः । 'तद्धितधासर्वविभक्तिः' इत्यव्यय संज्ञा ।

किमुवाचेत्याह—

क्षतात्किल प्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।

राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः, प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥५३॥

'क्षुण्णं हिंसायाम्' इति धातोः संज्ञादित्वात्किम् । 'गमादीनाम्' धातो इति बह्वध्यादनुनासिकलोपे तुगागमे च क्षुण्णिति रूपं सिद्धम् । क्षुण्णो नाशारत्रायन् इति सूत्र । सुपीति योगविभागात्क । तामेता व्युत्पत्तिरविर्यतोऽनुकामति—क्षतादि-  
त्यादिना । उदग्र उन्नतः क्षत्रस्य क्षत्रवर्णस्य शुद्धः वाचकः क्षत्रशब्दद्वयार्थः । धाता-  
त्रायत इति व्युत्पत्त्या भुवनेषु रूढ इति प्रसिद्धः रूढः । नाशकर्णादिवत्केवलरूढः  
किन्तु पट्टादिवयोगरूढः इत्यर्थः । ततः किमित्यत आह—तस्य क्षत्रशब्दस्य  
विपरीतवृत्तेर्विरूढव्यापारस्य क्षत्रश्राणमकुर्वतः पुंसो राज्येन किम् । उपक्रोशमलीमसै-  
निन्दामलिनैः । 'उपक्रोशो क्षुण्णमा च कुस्मा निन्दा च गर्हणे' इत्यमरः । 'ज्योत्स्ना-  
तमिक्षा—'इत्यादिना मलीमसशब्दो निपातितः । 'मलीमसं तु मलिनं कञ्चरं मलदूषि-  
तम्' इत्यमरः । तैः प्राणैर्वाकिम् । निन्दितस्य सर्वं व्यर्थमित्यर्थः । एतेन 'एषात्पत्रम्'  
(२१४७) इत्यादिना श्लोकरूपेणोक्तं प्रत्युक्तमिति वेदितव्यम् ।

'अथैकधेनो' (२१४६) इत्यत्रोत्तरमाह—

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विधाणनाद्यान्यपयस्विनीनाम् ।

इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम् ॥५४॥

अनुनयः क्रोधापनयः । चकारो वाकारार्थः । महर्षेरनुनयो वान्यासां पयस्विनीनां  
दोग्ध्रीणां विधाणनादानात् । 'त्यागो विहापिनं दानमुन्मर्जनविमर्जने । विधाणनं  
वितरणम्' इत्यमरः कथं नु शक्यः । न शक्य इत्यर्थः । अत्र हेतुमाह—इमा गां सुरभेः  
कामधेनोः । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी अनूनामन्यूनामवेहि जानीहि । तर्हि  
कथमस्याः परिभवो भूयादित्याह—रुद्रौजमेति । अस्या गावे त्वया कर्त्रा प्रहृतं तु  
प्रहारस्तु । नपुंसके भावेक्तः । रुद्रौजमध्वरनामध्येन न तु स्वयमित्यर्थः । 'सप्तम्याधि-  
करणे च' इति सप्तमी ।

तर्हि किं चिकीर्षिनमित्यत्राह—

सैयं स्वदेहापणनिष्कयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।

न पारणा स्याद्धिहता तवैयं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥५५॥

सैयं गौर्मया निष्क्रीयते प्रत्याहियतेऽनेन परिशुद्धीतमिति निष्कयः प्रतिशीर्षिकम् ।  
'एरच्' इत्यच्प्रत्ययः । स्वदेहापणेनैव निष्कयन्तेन । भवत्तस्वत्तः । पञ्चम्यास्तसित् ।

मोचयितुं न्याय्या न्यायादनपेता । युक्त्यर्थः । 'धर्मपथ्यर्थ' इत्यादिना यत्प्रत्ययः ।  
एवं मति तव पारणा भोजनं विहता न स्यात् । मुनेः क्रिया होमादिः स एवार्थः  
प्रयोजनम् । स चालुप्तो भवेत् । स्वप्राणव्ययेनापि स्वामिगुरुधर्मं संरक्ष्यमिति भावः ।

अत्र भवानेव प्रमाणमित्याह—

“भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ ।

स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥५६॥

परवान्स्वामिपरतन्त्रो भवानपि । परतन्त्रः पराधीनः परवाध्यायवानपि' इत्यमरः  
इदं वक्ष्यमाणमवैति । भवतानुभूयत एवेत्यर्थः । 'शेषे प्रथम' इति प्रथमपुरुषः ।  
किमित्यत आह— हि यस्माद्धेतोः । 'हि हेतावधारणे' इत्यमरः । तव देवदारौ  
विषये महान्यत्रः । महता यत्नेन रक्षयत इत्यर्थः । इदं शब्दोक्तमर्थं दर्शयति स्थातु-  
मिति । रक्ष्यं वस्तु विनाश्य विनाशं गमयित्वा स्वयमक्षतेनात्रणेन । नियुक्तेनेति शेषः ।  
नियोक्तुः स्वामिनोऽग्रे स्थातुं शक्यं न हि ।

सर्वथा चैतदप्रतिहार्यमित्याह—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः ।

एकान्तविध्वंसिषु मद्रिधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥५७॥

किमपि किं वाहं तवाहिंस्योऽव्यथो मतभेत्तर्हि मे यश एव शरीरं तस्मिन्दयालुः  
काश्निको भव । 'स्यादयालुःकारणिकः' इत्यमरः । ननु मुख्यमुपेक्ष्यामुख्यशरीरे  
कोऽभिनिवेशः । अत आह—एकान्तेति । मद्रिधानां माहृदानां विवेकिनामेकान्तवि-  
ध्वंसिषु अवश्यविनाशिषु भौतिकेषु पृथिव्यादिभूतविकारेषु पिण्डेषु शरीरेष्वनास्था  
खल्वनपेक्षैव । 'आस्था त्वालम्बनास्थानयन्नापेक्षामु कथ्यते' इति विश्वः ।

सौहार्दादहमनुमरणीयोऽस्मीत्याह—

“सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ मृगतयोर्वनान्ते ।

# तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं सम्बन्धिनी मे प्रणयं विहन्तुम् ॥५८॥

सम्बन्धं सत्त्वम् । आभाषणमावापः पूर्वं कारणं यस्य तमाहुः । 'स्वादोभाषण-  
मावापः' इत्यमरः । स तादृक्सम्बन्धो वनान्ते संगतयोर्नावाकयोर्वृत्तो जानः तत्ततो  
हेतोर्हे भूतनाथानुग शिवानुचर । एतेन तस्य महत्त्वं सूचयति । अत एव संबन्धिनी  
मित्रस्य मे प्रणयं याचनाम् । 'प्रणयास्वनी । विधम्भयाचनाप्रेमाणः' इत्यमरः ।  
विहन्तुं नार्हसि ।

तथेति गामुक्तयते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भधिमुक्तबाहुः ।

स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥५९॥

तथेति गामुक्तयते हरये सिंहाय । 'कपौ सिंहे सुवर्णे च वर्णे विष्णौ हरिं विदुः' इति शाश्वत । सद्यस्तत्क्षणे प्रतिष्टम्भात्प्रतिबन्धाद्धिमुक्तो बाहुर्यस्य स दिलीपः । न्यस्त-  
शस्त्रस्त्यक्तयुधः मन् । स्वदेहम् । आमिषस्य मामस्य । पत्तले क्रव्यमामिषम् ।  
इत्यमरः । पिण्डं कबलमिव । उपानयत्समर्पितवान् । एतेन निर्ममत्वमुक्तम् ।

तस्मिन्क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।

अचाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥६०॥

तस्मिन्क्षण उग्रं सिंहनिपातमुत्पश्यत उत्प्रेक्षणाणस्य तस्मिन्तोऽवाङ्मुखस्यो-  
मुखस्य । 'स्याद्वाङ्मुखोऽङ्मुखः' इत्यमरः । प्रजानां पालयितुं राज्ञः उपर्युपरिष्ठात् ।  
'उपर्युपरिष्ठात्' इति निपातः विद्याधराणां देवशोनिविशेषाणां हस्तमुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ।

उत्तिष्ठ वत्सं त्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।

ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामप्रतः प्रस्रविर्णीं न सिंहम् ॥६१॥

राजा अमृतमिवाचरतीत्यमृतायमानं तन् । 'उपमानादाचारे' इति क्यच् तैत्तः  
शानच् । उत्थितमुत्पन्नम् । 'देवत्स, उत्तिष्ठ' इति वचो निशम्य ध्रुत्वा । उत्थितः  
सन् । अस्तेः शनृप्रत्ययः । अमर्तोऽयं प्रस्रवः क्षीरस्रावोऽस्ति यस्याः सा ता प्रस्रविर्णी  
या स्वां जननीमिव ददर्श । सिंहं न ददर्श ।

ते विस्मितं घेनुस्त्वाच साधो मायां मयोद्गाव्य परीक्षितोऽसि ।

ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंसाः ॥६२॥

विस्मितमाश्रये गतम् । कर्नेरि क्तः । तं दिलीपं घेनुस्त्वाच । छिमित्यत्राद—हे  
माधो मया मायामुद्गाव्य कर्त्तव्यत्वा परीक्षितोऽसि ऋषिप्रभावान्मप्यन्तको यमोऽपि  
प्रहर्तुं न प्रभुर्न ममर्थः । अन्ये हिंसां घातुका । 'शराहर्षातुको हिंस्र' इत्यमरः ।  
'नमिवाग्नि—' इत्यादिना एण्ययः । किमुत सुष्ठु । न प्रभव इति योज्यम् ।  
'बलवत्सुष्ठु किमुत स्रस्त्यतीव च निर्भरे । इत्यमरः ।

भक्त्या गुप्तौ मय्यनुकम्पया च प्रीतासि ते पुत्र वरं वृणीष्व ।

न केवलानां पयसां प्रसृतिमवेहि मां कामदुर्घां प्रसन्नाम् ॥६३॥

हे पुत्र, गुप्तौ भक्त्या मय्यनुकम्पया च ते तुभ्यं प्रीतास्मि । 'क्रियापहणमपि  
कर्तव्यम्' इति चतुर्थी । वरं देवेभ्यो वरणीयमर्थम् । 'देवाद्बृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु



शौर्धं मनाकिप्रये' इत्यमरः । वृणीष्व स्त्रीपुरः । तथाहि मां केवलानां पयसां प्रसृति  
कारणं नावेहि न विद्धि । किन्तु प्रमत्ता माम् । कामान्दोग्धीते कामदुषा । तामवेहि ।  
'दुहः कष्यश्च' इति कप्रत्ययः ।

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्ताजितवीरशब्दः ।  
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥६४॥

ततो मानितार्थी । स्वहस्ताजितो वीर इति शब्दो येन सः । एतेनास्य । दातृत्वं  
दैन्यराहित्यं चोक्तम् । स राजा हस्तौ समानीय संधाय अष्टलिं बद्ध्वेत्यर्थः । वंशस्य  
कर्तारं प्रवर्तयितारम् । अतएव रघुदुलमिति प्रसिद्धिः । अनन्तकीर्तिं स्थिरयशसं तनयं  
सुदर्शितायां ययाचे ।

संतानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।  
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥६५॥

सा पयस्विनी गौः । संतानं कामयत इति सन्तानरामः । कर्मण्यण् । तस्मै  
राज्ञे तथेति । काम्यते इति कामो वरः । कर्मार्ये घञ्प्रत्ययः । तं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञाय  
हे पुत्र, मदीयं पयः पत्रपुटे पत्रनिर्मिते पात्रे दुग्धोपभुङ्क्ष्व' । 'उपभुङ्क्ष्व' इति वा  
पाठः । 'पिय' इति तमादिदेशाज्ञापितवती ।

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृपेरनुज्ञामधिगम्य मातः ।  
मौधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं पष्टांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥६६॥

हे मातः, वत्सस्य वत्सपीतस्य शेषम् । वत्सपीतावशिष्टमित्यर्थः । होम  
एवार्थः । तस्य विधिरनुष्ठानम् । तस्य च शेषम् । होमावशिष्टमित्यर्थः । तव । ऊधसि  
भग्नमौधस्यं क्षीरम् । 'शरीरावयवाश्च' इति यत्प्रत्ययः । रक्षिताया उर्व्याः पष्टांशं  
पष्टभागमिव । मृपेरनुज्ञामधिगम्य । उपभोक्तुमिच्छामि ।

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।  
तदन्विता हैमवताञ्च कुक्षेः प्रत्याययावाथममथमेण ॥६७॥

इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठस्य धेनुः प्रीततरा । पूर्वं शुभ्रुपया प्रीता  
संप्रत्यनया विज्ञापनया प्रीततरातिसंतुष्टा बभूव । तदन्विता तेन दिलापेनान्विता हैमव-  
ताक्षिमवत्सम्बन्धिनः कुक्षेर्गुहायाः सकाशाद्भ्रमेणानयासेनाभ्रमं प्रत्याययावागता च ।

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरुर्ये निवेद्य ।  
प्रहर्षचिद्धानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥६८॥

प्रमत्नेन्दुरिव मुखं यस्य न नृपाणां गुरुर्दिलीपः प्रहर्षचिह्नैर्मुग्गरागादिभिरनु-  
मितमूढितं तस्या धेनोः पमादमनुग्रहं प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञातत्वात्पुनरुत्थयेव वाचा गुरवे  
निवेश विज्ञाप्य पश्चात्प्रियायै शशंम कथितस्यैव कथनं पुनरुक्तिः । न चेद् तदस्ति ।  
किन्तु चिह्नं कथितप्रायत्वात्पुनरुत्थयेव स्थितयेत्युपेक्षा ।

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितारत्ना सद्भक्तसलो वत्सहृतावशेषम् ।

पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमियातितृष्णः ॥६९॥

अनिन्दितारत्नाऽगर्हितस्वभाव । मन्तु वन्मलः प्रेमवान्मद्वन्मलः । 'वन्मामान्या  
कामबले' इति लुप्रत्ययः । वसिष्ठेन कृतानुज्ञः कृतानुमतिः न राजा वन्मस्य हृतस्य  
चावशेषं धातुकृतावशिष्टं नन्दिन्या स्तन्यं क्षीरम् । शुभ्रं मूर्तं परिच्छिन्नं यश इव ।  
अतितृष्णः सन्नपौ ।

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।

तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास यशो वसिष्ठः ॥७०॥

यशो वसिष्ठः प्रातः । यथोक्तस्य पूर्वोक्तस्य व्रतस्य गोसेवात्पस्याद्भूता या  
पारणा तस्या अन्ते प्रास्थानिकं प्रस्थानकालेभवम् । तत्कालोचिनमित्यर्थः । 'कालाट्टन्'  
इति ठन्प्रत्ययः । 'यथाकथंचिद्गुणान्यापि काले वर्तमानत्वान्प्रत्यय दम्पते' इति  
शुक्तिकारः । ईयते प्राप्यतेऽनेनेत्ययनं स्वस्त्ययनं शुभावहभाशीर्वादं प्रयुज्य । तौ  
दम्पती स्था राजधानीं पुरीं प्रति प्रस्थापयामास ।

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धती च ।

धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोद्भवतरप्रभावः ॥७१॥

नृपो हुतं तर्पितम् । हुतमशानीति हुताशोऽग्निः । 'कर्मण्य' । तं भर्तुमुनेरतन्त-  
रम् । प्रदक्षिणानन्तरमित्यर्थः । अरुन्धती च मवन्मा धेनुं च प्रदक्षिणीकृत्य । प्रगतौ  
दक्षिणं प्रदक्षिणम् । तिष्ठद्गुणभृतीति च इति अव्ययीभाव । ततश्चिद् । अप्रदक्षिणं  
प्रदक्षिणं न्ययमानं कृत्वा प्रदक्षिणीकृत्य सन्निमङ्गलेः प्रदक्षिणादिभिर्मङ्गलान्तरैरुद्-  
भवतरप्रभावः सन् प्रतस्थे ॥

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।

यथाचतुर्दघातमुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥७२॥

धर्मपत्नीसहित महिष्णुर्प्रतापिदुःखमहनशीलः स नृपः श्रोत्राभिरामध्वनिना  
कर्णाद्गादयध्वनेनानुद्धानं पापागादिप्रतिज्ञानगद्गितः अनेनैव सुगयतीति सुख । तेन

रथेन । स्वेन पूर्णेन सफलेन मनोरथेनेव । मार्गमध्वानं यथौ । मनोरथपक्षे ध्वनिः श्रुतिः । अनुद्धानः प्रतिबन्धनिवृत्तिः ।

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकश्चिताङ्गम् ।

नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिधौपर्धानाम् ॥७३॥

अदर्शनेन प्रवामनिमित्तेनाहितौत्सुक्यं अनितदर्शनोत्कण्ठम् । प्रजार्येन संतानार्थेन व्रतेन नियमेन कश्चितं कृशाकृतमङ्गं यस्य तम् । नवोदयं नवाभ्युदयं प्रजास्तृप्तिमनाप्नुवद्भिरतिशुभुभिर्नेत्रैः । ओपर्धाना नाथं सोममिव । तं राजानं पपुः । अन्यास्थया ददृशुरित्यर्थः । चन्द्रपक्षे—अदर्शनं कलाक्षयनिमित्तम् । प्रजार्थं लोकहितार्थम् । व्रतं देवताभ्यः कलादाननियमः । 'तं च सोमं पपुर्देवाः पर्यायेणानुपूर्वशः' इति व्यासः । उदय आविर्भावः । अन्यत्मानम् ।

पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।

भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥७४॥

पुरः पुरीरसुराणा दारयतीति पुरंदरः शक्रः । 'पूः सर्वभोर्दारिसदोः' इति सत्प्रत्ययः । 'वाचंयमपुरंदरौ च' इति मुमागमो निपातितः । तस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य स नृपः पौरैरभिनन्द्यमानः । उत्पताकमुच्छ्रितश्चक्रम् । 'पताका वैजयन्ती स्यात्केतनं ध्वजमत्रियाम्' इत्यमरः । पुरं प्रविश्य भुजंगेन्द्रेण समानसारे तुल्यबले । 'सारो बले स्थिरसि च न्वाप्ये ऋषे बरे त्रिपु' इत्यमरः । भुजे भूयो भूमेर्धुरमाससञ्ज स्थापितवान् ।

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः

सुरसरिदिष तेजो बह्निनिष्ठयूतमैशम् ।

नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राक्षी

गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥७५॥

अथ द्यौः सुरवर्त्म । 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः । अत्रैर्महर्षेर्नयनयोः मनुन्धमुत्पन्नं नयनसमुत्थम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति यत्प्रत्ययः । ज्योतिरिव । चन्द्रमिवेत्यर्थः । 'ऋद्धसः स्यादत्रिनेत्रप्रसूतः' इति हलायुधः । चन्द्रस्यात्रिनेत्रोद्भूतत्वमुक्तं हरिवंशे—'नेत्राभ्या वारि मुच्याव दशधा द्योतयद्दिशः । तद्गर्भविधिना हृष्टा दिशो देव्यो दधुन्तदा । मनेन्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन् । स ताभ्यः सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भः प्रभावितः । पपात भासय श्रेकान्घ्नीतांशुः सर्वभावनः ।' इति । सुरसरि-इहा बहिनानिष्ठयूतं निक्षिपम् । 'ऋजोः श्ङङनुनासिके च' इत्यनेन निपूर्वाण्यवतेर्बकारस्य ऋ । 'नुत्तनुष्णान्निष्ठयूताविद्धक्षितेरिताः समाः' इत्यमरः । ऐशं तेजः स्वन्द-

मिव । अत्र रामायणम्—'ति गत्वा पर्वतं राम कैलासं धातुमण्डितम् । अग्नि  
 नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः । देवकार्यमिदं देव समाधत्स्व हुताशन । शैलपुत्र्या  
 महानेजो गङ्गाया तेज उन्मृज । देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येय पावकः । गर्भं धारय  
 वै देवि देवतानामिदं प्रियम् । इत्येतद्वचनं ध्रुवा दिव्यरूपमधारयत् । स तस्या महिमा  
 दृष्ट्वा समन्तादवक्षीर्य च । समन्तस्तु तां देवीमभ्यतिष्ठत पावकः । सर्वघोतासि  
 पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ।' इति राज्ञी सुदक्षिणा नरपतेर्दिलीपस्य कुलभूत्यै मन्ति-  
 लक्ष्मणायै गुरुभिर्महाद्भिलोकपालानामनुभावैर्भोजोभिरभिनविष्टमनुप्रविष्टं गर्भमाधत्त ।  
 दधातिन्यर्थः । अत्र मनु—'अष्टाना लोकपालाना वपुर्धारयते नृपः । इति । अत्र  
 'आधत्त' इत्यनेन स्त्री कर्तृकारणमात्रमुच्यते । तथा मन्त्रे च दृश्यते—'यथेयं पृथिवी  
 मनुत्ताना गर्भमादधे । एवं त्वं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे ।' इत्याध्यायनाना  
 सीमन्तमन्त्रे स्त्रीव्यापारधारणे आधानशब्दप्रयोगदर्शनादिति । मालिनी-वृत्तमेतत् ।  
 तदुक्तम्—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति उच्यते ।

इति महामहोपाध्यायश्रीलाचलमठिनाथसूरिविरचितया संजीवितौ-समाख्यया  
 व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये नन्दिनी-  
 वरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ।

# अथ श्रीभर्तृहरियोगोन्द्र-विरचित नीति-शतके

दिशालाद्यन्नचच्छिन्नान्तचिन्मात्रमूर्तये ।

स्वानुभूत्येकमानस्य नमः शान्ताय तेजसे ॥ १ ॥

द्विष्टा प्राच्यादिदिक्प्रदेशाः, काला भूतभरिष्यद्वर्तमानरूपा, अदिशब्दमंगृही-  
तानि वस्तूनि तथा च दिशाला आदयो येषां तानि दिशालादीनि । अतद्गुण  
नैविज्ञानोबहुव्रीहिः । तेजश्चिच्छिन्नपरिकल्पना । विभुत्वादेरुवाच देशतः कालतो वस्तु-  
तथापरिच्छिन्नैर्गर्भः अत्र एव अनुन्ता अपरिमिता चिन्मात्रा ज्ञानरूपा, तादृशीमूर्तिः  
यस्य तस्मै । तथा स्वात्मानुभूतिरत्मानुभव एव मानं प्रमाणं अ तु घटादेरिव चक्षुरा-  
दिप्रमाणिकत्वम् इति भावः । यस्य तस्मै । तथा ज्ञान्ताज-अविद्यागत्कार्यसम्बन्धशून्य-  
त्वात्प्रसहाय । तेजसे ज्योतीरूपाय नमः प्रह्लाभायः । 'नमः स्वस्ति-' इत्यादिना  
चतुर्थी । अत्र नमस्काररूपं मङ्गलमाचरितम् । श्रीसाध्यमेतदावुत्पदं वृत्तम् ।

बोद्धारो मत्सरप्रस्ताः प्रभवः स्मयदृषिताः ।

अधोधोपहृताध्यान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥ २ ॥

बोद्धारः परिज्ञानारः 'बुध अवगमने इत्यस्मादातोश्नृच् । मन्मरेणाम्यया  
परित्कपर्णहनेन प्रस्थाः नमस्कान्ताः । न तु हृदयालवः, अतो नानुमोदन्त इति भावः  
प्रभवो राजानः स्मयदृषिता गर्वदुर्विनीताः । न तु विनयप्रहाः, अतो न शृण्वन्तीति  
भावः । अन्ये-उक्तोभयव्यतिरिक्तजनाः अधोधेनाज्ञानेनोपहृता नष्टात्मानः । ते नाधि-  
कारिणः । तस्मान् सुभाषितं साधुभाषणम् । अहेऽन्तरङ्गे जीर्णमन्तर्द्वितम् । न त्वयापि  
यदिः प्रवृत्तम् । तथापि वक्ष्यामीति वाक्यरोपः ।

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं गज इव मदान्धः समभवं

तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवद्वलितं मम मनः ।

यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतं

तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदी मे व्यपगतः ॥३॥

अहं किञ्चिज्ज्ञोऽन्यतः मरु यदा यन्मिन् समये गुण इव मुदेन दर्शयन्त्यः  
 कर्तव्याकर्तव्यविवेकशून्यः सममवं जातोऽसि, मुदा तन्मिन् समये सर्वज्ञोऽशेषज्ञोऽस्मीति  
 नम नूनोऽस्मीतिं गर्वितनम्रवत् । 'अयविद्यो महागर्वी' इति न्यायान् 'अवन्त्यस्तु सर्वे  
 स्यात्' इति विश्वप्रकाशः । यदा वृषभनमकाशात्-विद्वज्जनमुखात् 'आख्यातोपयोगे'  
 इति पदमी । किञ्चित् किञ्चिन्मयं स्वल्पम् । शास्त्रोपेक्षाचार्यादिकमितिदेशः । अव-  
 गुणं ज्ञातम् । तथा मूर्खो मूढोऽस्मीति मे मम मूढो ज्वर इव स्वपगतः निर्गणः अम-  
 दितिज्ञः । 'आचार्यान्मुमुक्षो वेद' इति धवनादाचार्यावगतविश्वस्त्विव विवेकः सम्भव  
 इति भावः । शिखरेणो वृत्तम् ।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुणं धनं

विद्या भोगकरी यदाःसुखकरी।विद्या गुरूणां गुरुः ।

विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता

विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥३॥

रूपं नाम कुण्डलहारनूपुराङ्गुलीदिचतुर्विधभूषणमावेऽपि विभूषिततडासमान  
 आकारविशेषः । विद्या नाम वेत्ताभ्याशान्निक्ताविवेकं नरस्य पुंसोऽपि च भूषिष्टं रूपम्  
 तथा प्रच्छन्नं निगूढं यथा तथा गुणं रसितं धनं विश्वेति सम्बन्धः । विद्या भोगान्  
 करोतीति भोगकरी । तथा यज्ञः समाख्या मुक्तिमिदियदागम् । एतच्छ्रुत्वा एतदेतुष ।  
 उभयत्रापि 'कृनो हेतुनाऽऽस्थानुलोम्बेषु' इति प्रत्यये टित्वाङ्गीप् । तथा विद्या  
 शृण्वन्पुत्रदिद्यन्तीति श्रवणेयां हिताहितोपदेशेणाभाचार्याणामपि गुरुत्वं दृश्यते ।  
 विद्या विदेशगमनेप्रवामे वन्द्यतः सुदृज्जकः । विद्या परा देवता परात्मभूता । मौञ्ज-  
 दावच्छ्रादिनि भावः, यदा परा देवता स्वार्भीष्ट देवता । विद्या राजसु पूज्यते राजस्ये  
 प्रशस्यते । धनं द्रव्यं तु नहि । लक्षप्रकारं न भवतीत्यर्थः । तस्मादिच्छन्नेकरूपया विहीनः  
 शून्यः जनः पशुः पशुप्रायः । कर्तव्याकर्तव्यविवेकशून्यइत्यादिति भावः ।  
 शार्दूलविक्रीडितम् ।

जाह्वं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं

मानोश्चरति दिशति पापमपाकरोति ।

चेतः प्रसादयति दिशु तनोति कीर्तिं

सत्सङ्कतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥५॥

विद्यां बुद्धेर्नाशं मान्यं हरति निरस्यति । वाचि वचनं मुक्तं सुतुतमावं निश्चि-  
 त्वाप्यवयति । मानोश्चरति बहुमानातिशयं दिशति प्रयच्छति । पापं किञ्चिन्मनाकरोति

नामयति । धर्मोपदेशादेना । तथा चेतः प्रमादयति निर्मलयति ज्ञानोपदेशादिना ।  
 टिलु दिशामु कीर्तिं तनोति विस्तारयति । अतः सुत्संगतिः—मजनसमागमः गुमा कि  
 धेपो नु करोति । कृष्य इति पृथग्जन सम्बोधनम् । सर्वमपि धेय करोत्येकेन्यर्थः ।  
 अतः मत्सङ्गतिः—कार्या । वसन्ततिलका उक्तम् ।

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तथाप्यधो गच्छतां ;  
 शीलं शैलतलात्पतत्यभिजनः । सन्दहातां यद्विना ।  
 शीर्ये वैरिणि घञ्जमाशु निपतत्प्रथोऽस्तु नः केवलं  
 येनैकेन विना गुणास्तृणलचप्रायाः समस्ता इमे ॥६॥

जातिर्वाद्गत्यादि रसातलं नामाधोलोकं यातु गच्छतु । अरयन्वित्यर्थः ।  
 गुणगणो धैर्योदायादिगुणममूढस्तत्रापि रसातलोपेक्षयाप्यधु पाताललोकं गच्छत्या  
 प्राप्नुयान् । शीलं मत्स्वभावः शैलतलात्पततु । विशीर्णः भवत्वित्यर्थः । अभिजनो  
 वंशः' इत्यमरः । यद्विना संदहातां भस्मीक्यताम् । वैरिणि संज्ञोभकारित्वाच्छत्रुभूत  
 शीर्ये आशु शीघ्रं वृष्टमशनिनिपततु । अशनिनिपानेन तदपि विश्वस्तं भवतु । एवंपूर्वाक्त-  
 जातिकुलादिनाशेऽप्यम्माहं न किञ्चिदपिच्छिन्नम् । नः अम्माकम् अर्थः केवलं  
 वित्तमेवास्तु संभवतु । अयमेवाम्माहं परमार्थ इति भावः । एकेन केवलेन 'एके सुख्य-  
 न्यकेवला' इत्यमरः । येनार्येन विना इमे पूर्वाकाः समस्ता अपि गुणाः जातिकुलादयः  
 तृणलचप्रायास्तृणरूपाः । तद्वन्निसारा इत्यर्थः । शार्दूलविभीषितम् ।

जाड्यं हीमति गण्यते व्रतशुचौ । दम्भः शुचौ कैतवं  
 शूरे निर्घृणता मुनी विमतिता । दैन्यं प्रियालापिनि ।  
 तेजस्विन्यवलितता मुखरता धिक्कव्यशक्तिः स्थिरे

तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाद्वितः ॥७॥  
 हीमति उवाचति पुंसि जाड्यं मान्यम्, गण्यते संख्यायते दुर्जनैरतिशेष-  
 व्रतैस्त्वरथाद्यापणादिनियमैः शुचौ शुद्धे दम्भो धर्मव्यजिन्वं गण्यते, न त्वनुष्ठानत्वम् ।  
 शुचौ स्वभावादेव बाह्यान्तरशुद्धे कैतवं कपटं गण्यते, न तु पारमार्थिकत्वम् । शूरे  
 निर्घृणता दयाराहित्यं गम्यते, न तु विनान्तत्वम् । मुनी मननशीले विमतिता मुद्धिदैन्यं  
 गम्यते, न त्वारमैक्यानुसंधानतत्परत्वम् । प्रियालापिनि मयुरवादिनि दैन्यं गण्यते न  
 तु ध्वजानन्दकरत्वम् । तेजः प्रागल्भ्यं प्रभाविशेषो वा तद्वति अखलिप्रता गर्वप्रस्तनं  
 गम्यते, न तु स्वभावः । वक्त्रेष्वर्थेषु शक्तिः प्रतिभापरपर्यायः सामर्थ्यविशेषः  
 तथा स्थिरे । मुखमस्मास्तीति मुखरो दुर्मुखः 'दुर्मुखे मुखरपदसुगौ, इत्यमरः ।  
 समुत्तुभ्रेभ्यः इति र प्रत्ययः । तस्य भावमला । असम्बद्धप्रलापिन्वमित्यर्थः ।

गुण्यते, न तु वाग्मिन्त्वम् । ततस्मात्कारणात् गुणिना गुणसम्पन्नानां न क्वी नाम  
गुणे भवन्, यो दुर्जनैः न अङ्कितः क्षयितः । दुर्जनदूषितो गुणः सुगुणिना न  
नेऽप्यन्तीत्यर्थः । शार्दूलविनीडितम् ।

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्धाचको जल्पको वा

धृष्टः पार्श्वो भवति च वसन्द्दूरतोऽप्यप्रगल्भः ।

क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः

संचाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥८॥

मौनान्मूक्याभावान्मूको निर्दयो भवति । सेवक इति शेषः । प्रबलपटुः  
परात्मश्चातिवक्त्र वाचको बहुभाषी, जल्पतीति जल्पकोऽसंबद्धप्रलापी वा भवति ।  
पार्श्वे समीपे च वसन् धृष्टो निर्भीको भवति । दूरतो विप्रकृष्टे देशे वसन्नप्रगल्भोऽप्रीडो  
भवति । क्षान्त्या परिभवादिपूरयमानेषु उत्पद्यमानेषु वा क्रोधप्रतिबद्धलक्षणयोप-  
लक्षितधेदु भीरुर्मयशीलो भवति । न सहते परिभवादिकं क्षमते यदि, तर्हि प्रायशो  
बाहुन्येन अभिजातः मत्कुलीनः न भवति । अतः परमगहनः अत्यन्तदुर्गगाहः  
मेवाधर्म परिवर्तितकं कर्म योगिनामपि कालत्रयाभिज्ञानामपि । विमुक्तान्येषामिति  
भाव अगम्यो ज्ञानुमदाक्ष्य सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः । वृत्तं मन्दाकान्ता ।

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिसुपैति पश्चात् ।

दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥९॥

पूर्वार्धपरार्धभ्यां पूर्वार्धापराहभेदेन भिन्ना पृष्णविधा 'छायात्वनातपे कान्ती'  
इति वक्ष्यन्ती । आरम्भे प्रारम्भसमये गुर्वी गुरुः । वधिष्णुरित्यर्थः, 'वोतो गुणवचना-  
दिति' विकल्पान्दीप् । क्रमेण कालक्रमेण क्षयिणी क्षयिष्णुश्च । 'त्रिदधि' इत्यादिना  
श्रुतिः । तथा पुरा प्रारम्भे लघ्वी हसैत्यर्थः पश्चादनन्तरं वृद्धिसुपैति प्राप्नोति । अय-  
मर्थः—दुर्जनमैत्री पूर्वाह्छायेव प्रारम्भगुर्वी क्रमेण क्षयिणी च भवति । सुजनमैत्री  
तावदपराह्छायेवादी लघ्वी ततो वधिष्णुश्च भवतीति । उपश्रुति वृत्तम् ।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा

सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।

यशसि चाभिरतिव्यसनं धृतौ

प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥१०॥

विपदि अपरकाये धैर्ये विक्रियारचित्वम् । अथ अन्तरं वाक्पटुतायां वा  
अभ्युदये गणदि क्षमा महिष्णुत्वम् । यशसि राजविठ्ठलभाषा वाक्पटुता वाग्मिन्त्वम्



मरसवचनं च । वाक्वातुर्यमिति यावत् । शुधि रणरङ्गे विक्रमः पराक्रमः । यशसि  
अभिरतिः मंग्रदंष्ट्र । ध्रुवी वेदशास्त्राभ्यसने व्यसनमात्मिकः । इतीदं सर्वं महात्मनां  
महानुभावानां प्रकृतिसिद्धं स्वभावसिद्धं हि । इतिविलम्बितं वृत्तम् ।

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसोर्नामापि न श्रूयते  
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं दृश्यते ॥

अन्तः सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते  
प्रायेणाधममध्यमोत्तमजुषामियंविद्या वृत्तयः ॥११॥

संतप्रायसि सम्यगप्रितप्तायःपिः संस्थितस्य निक्षिप्रस्यैत्यर्थः प्रययो जन्मस्य  
नामापि नामधेयमात्रमपि न श्रूयते । मूलतो ध्वनमं च भवतीत्यर्थः । नदेव पयो  
नलिनीपत्रस्थितं पद्मपत्रगतं मत् मुक्ताकारतया मौक्तिकरूपेण दृश्यते । तदेव पयोऽन्त-  
सागरे सागरान्तराले वा शुक्तिमुक्ताश्चोदस्तस्या मध्येऽदरे पतितं मत् मौक्तिकं जायते ।  
मुक्तैव मौक्तिकमिति विग्रहः । विनयादित्वात्स्वाये ठक् । अतः प्रायेण भूम्ना अधममध्य-  
मोत्तमजुषां निकृष्टसाधारणोत्कृष्टाश्रयाणा विनयवत्तमेव विद्या नामाश्रवणादयो वृत्तयो  
ध्यापाम भवन्तीति यथाक्रममन्वयः । अतः महदाश्रय एव कर्तव्य । शार्दूलविकीडितम् ।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-  
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।

अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः  
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥१२॥

तरवः पनपरमात्मादिवृक्षाः फलोद्गमैः फलभारः नम्रा अवनता भवन्ति । घना  
मेघा नवाम्बुभिर्नूनोदकैरुपलक्षिताः सन्तो दूरविलम्बिनः सर्वत्र प्रवर्षणार्थमन्तरि-  
क्षमंचारिणो भवन्ति । सत्पुरुषाः समृद्धिभिरुपलक्षिताः अप्यनुद्धता अनुबन्धा  
भवन्ति । तथा एष उक्तनिजजन्मत्वादिद्व्यवहारः परोपकारिणो परहिताचरणन्यपगणा  
स्वभावः निमग्नसिद्ध एव । न त्वाहार्यक इत्यर्थः । वंशस्थवृत्तम् ।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुयन्तु  
लक्ष्मीः समाविशन्तु गच्छन्तु वा यथेष्टम् ।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा  
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥१३॥

नीतिनिपुणा नयाविशारदा निन्दन्तु कथोचिद्दृश्यन्तु वा, यदि अथवा स्तुयन्तु  
भयंयन्तु वा । लक्ष्मीः संपन्नमाविशन्तु प्राप्नोतु वा, उत युधेष्टं निरर्गतं गच्छन्तु वा ।

अशुभेदानीमेव मरणं निधनमस्तु वा, उत युगान्तरे बल्यान्तरे वास्तु । तथापि धीर्ग  
 र्धैर्यशालिनो न्याय्यन्याथादनपेनात्प्रथो मार्गात्पुद्गमेरुपादविन्यासमात्रमपि न  
 प्रविचलन्ति न भ्रदन्ति । तेषां न्यायमार्गोपरित्याग एव परमार्थो न निन्दास्तथा-  
 मिरिति भावः । वयन्ततिलकां वृत्तम् ।

### वैराग्यशतके

आधिच्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते ।

लक्ष्मीयंत्र, पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः ।

जातं जातमवश्यमाशु विद्यशं/मृत्युः करोत्यात्मसात्

तत्किं तेन निरङ्कुशेन विधिनायत्निर्मितं सुस्थिरम् ॥१५॥

विविधैः नानाप्रकारैः आर्षीनां मनोव्यथाना व्याधीना पित्तादिशरीररोगाणां  
 च शतैः । अनेकैराधिच्याधिभिद्विधैः । 'पुंस्याविर्मानिर्द्धा व्यथा' रोगव्याधिगदामया'  
 इति चामरः । जनस्य आरोग्यं देहस्वास्थ्यं उन्मूल्यते निर्मूलीकियते । तथा यत्र  
 यस्मिन्पुरे लक्ष्मी. ऐश्वर्यगच्छति । तिष्ठतीति शेषः । तत्र तस्मिन्पुरे व्यापदः महो-  
 पद्रवा विवृतानि उद्घाटितानिद्वाराणि क्वाशानि यासां तास्तथोक्ता इव पतन्ति ।  
 तथा मृत्युः अन्तकः जातंजातं प्रारब्धकर्मवशात्पुनःपुनरुत्पन्नम् । बीप्साया द्विर्भावः ।  
 अतएव विवृतं विवृतं जन्तुमिति शेषः । अवश्यं नियतं आशु शीघ्रमेव आत्मसात्  
 आत्मार्थिनं करोति । मारयतीत्यर्थः । अतः तेन प्रसिद्धेन निरङ्कुशेन निर्मलेन  
 विधिना ब्रह्मणा यद्गस्तु निर्मितं तत्किं वा सुस्थिरम् । न किमपीत्यर्थः । अतोऽस्थिर-  
 भोगाशंसनं न कर्तव्यम् । शार्दूलविनीडितम् ।

सा रम्या नगरी, महांस नृपतिः । सामन्तचक्रं च तत्

पाश्वे तस्य च सा विदग्धपरिपन्नाश्चन्द्रविम्बाननाः ।

उद्बृत्तः स च राजपुत्रनिबहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः

सर्वे यस्य घशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥१५॥

अत्र सर्वत्रापि तच्छब्दः पूर्वावभूतविषयः । तथा च सा पूर्वावभूता । रत्न-  
 योग्या रम्या मनोहरा नगरी राजधानी च तत्र स महान् साम्राज्यभारधोरैयतया पूज्यो  
 नृपतिः राजा च । तस्येति सम्बन्धसामान्ये पञ्जी सर्वत्र संशय्यते । तस्यनृपतेस्तत्  
 सामन्तचक्रम् प्रत्यधिराजमण्डलम् । यद्वा सेवार्थं समागताखण्डमण्डलाधिपतिपरिवारश्च  
 तस्य पाश्वे स्थितमिति शेषः । सा विदग्धपरिपन्नाश्चन्द्रविम्बाननाः । अथवा विदग्धानां  
 कर्तव्यार्थवनुराणां परिपन्ना समुदायश्च तस्य ताः चन्द्रविम्बमिव आननं यासां ताः  
 सुन्दर्यश्च । अस्य स उद्बृत्तः उत्पद्यतः । उद्बृत्त इति यावत् । राजपुत्रनिबहः  
 राजकुमारवर्गश्च, तस्य ते बन्दिनः स्तुतिपाठकाश्च । 'बन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः ।

यस्य ताः कथाश्च श्राव्यवाचश्च । इति सर्वे अशेषमपि यद्य कालस्य वशाद् आयत्त-  
त्वान् स्मृतिपथं स्मरणमार्गं अगात् प्रापत् । कालमाहिम्ना सर्वमपि नष्टमभूदित्यर्थः ।  
तस्य कालस्य नमः प्रह्वीभावः । शार्दूलविकीरितम् ।

यत्रानकः क्वचिदपि गृहे । तत्र तिष्ठत्यथैको

यत्राप्येकस्तदनु वहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते ।

इत्थं नैयै । रजनिदिवसौ । लोलयन्द्वाविद्याक्षी

कालः कल्योभिवनफलके । क्रीडति प्राणिशारैः ॥१६॥

यत्र यस्मिन् गृहे वेस्मनि कोष्ठे च क्वचिदपि कदाचिन् । यद्वा यत्र क्वचिदपि  
यस्मिन् कर्मिद्विरुद्धे । अनेकः बहुल प्राणी शारथ तिष्ठति, अधानन्तरं तत्र  
तस्मिन्नेव गृहे कदाचिदेकस्तिष्ठति । एकत्र कालभेदवशात्, अन्यत्र परिणामवशाच्चेति  
भावः । तथा यत्र यस्मिन् गृहे कदाचिदेकस्तिष्ठति तदनु तदनन्तरं बहुवध तिष्ठतीति  
शेषः । तत्र तस्मिन् गृहे अन्ते अवसानकाले वृत्तसमाप्ता च एकोऽपि न तिष्ठति ।  
इत्थं लक्ष्मीत्या भुक्तं फलकमिव शारप्रवर्तनीचितकोष्ठयन्त्रमिव तस्मिन् नैयैः ।  
प्रवर्तनीयैरिति भावः । प्राणिनः शारा इव वृत्तगूढा इव । अक्षोपकरणानीवेतियावन्  
तेः साधनेः 'शारे वृत्त गूढो नर्पुगम्' इति वैजयन्ती । कल्प्यः कलनासमर्थः देवन-  
चतुरथ कालः (कर्मा) अक्षधूर्तश्च गम्यते । रजनिदिवसौ रात्र्यह्नो (कर्म) द्वौ अक्षौ  
पाशकानिव 'पगोऽच्छेषु ग्लहोक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते' इत्यमरः । लोलयन्  
पौन-पुन्येन गृहणन् यज्ञं धेत्यर्थः । क्रीडति दीव्यति । प्राणिसंयोगवियोगयोः वृद्धि-  
वादीनां च काल एव कर्तेति भावः । मन्दाक्रान्तानृत्तम् ।

क्षणं घालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः

क्षणं विचैर्हानिः क्षणमपि च संपूर्णविभवः ।

जराजीर्णरक्षैर्हानि इव वलीमण्डिततनु—

नरः संसारान्ते विंशति यमघानीयघनिकाम् ॥१७॥

क्षयं क्षणमात्रम् । ईयत्कालमित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । कालः शिशुः  
भूत्वा तथा क्षणमपि कामेन मन्मथेन रुमिः शृङ्गाररमाभिनविष्टः । यद्वा काम्यन्ते  
'अभिलष्यन्त इति कामाः तेषु रुमिः अनुरागवान्, युवा तरुणश्च भूत्वा । तथा क्षणं  
विचैर्हानिः निर्धनो भूत्वा । क्षणमपि च संपूर्णविभवः परिपूर्णधनश्च भूत्वा । तथा क्षणं  
मर्या जांभीः शिथिलैः अक्षैर्यलक्षितः अतएव वृद्धीभिः विश्वचर्कभर्तृभिः सृष्टिना  
भूयता, तनुः गात्रं यस्य तपोक्तो भूत्वा नरः सर्वोऽपीत्यर्थः तद्वः तत्तद्वेपथारी नर्तक  
इव मंगारस्य वात्स्ययौवनायस्थानुभवश्च संसाररूपटनाटकस्य नाट्यप्रवर्तकशटम्बरस्य  
च अन्ते भवमाने । यद्यो धीयतेऽप्येति यमघानी मंयमिनीनाम्नी यमपुरी सा शरानिका